प्रतिध्वनि

लेखक

जयशंकर प्रसाद

ग्रन्थ-संख्या—९२
प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस, प्रयाग

तृतीय संस्करण
२००२ वि०
मू० ||)

मुद्रक—
महादेव एन० जोशी
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

श्री 'प्रसाद' जी की सर्वप्रथम कहानियों का संग्रह 'प्रतिध्वनि' में है। हिन्दी की नवीन युग की कहानियों का सूत्रपात इन्हीं रचनाओं से हुआ था। अपने समय के साहित्य को पीछे रख कर प्रसाद जी ने इसमें नई कला, नई अनुभूति और नवीन युग के नवीन दृष्टिकोण को मूर्त किया था। क्रमशः अपनी महान प्रतिभा से वे अपने साहित्य और उससे भी अधिक अपनी मातृ-भाषा को अधिक से अधिक ऊँचे स्तर पर ले गये, परन्तु 'प्रतिध्वनि' का महत्व कभी भी कम न होगा क्योंकि हम लोग अपने नये साहित्य के प्रथम प्रभात की उष्ण, स्निग्ध और कोमल किरणों का आनन्द इसके द्वारा आज भी पा सकेंगे।

विषय-सूची

प्रतिध्वनि

प्रसाद

मधुप अभी किसलय शय्या पर, मकरन्द मदिरा पान किये सो रहे थे। सुन्दरी के मुख मण्डल पर प्रस्वेद विन्दु के समान फूलों के ओस अभी सूखने न पाये थे। अरुण की स्वर्ण किरणों ने उन्हें गरमी न पहुँचाई थी। फूल कुछ खिल चुके थे परन्तु थे अर्ध विकसित। ऐसे सौरभ पूर्ण सुमन सबेरे ही जाकर उपवन से चुन लिये थे। पर्ण पुट की उन्हें पवित्र वेष्ठन देकर अञ्चल में छिपाये हुये सरला देव मन्दिर में पहुँची। घण्टा अपने दम्भ का घोर नाद कर रहा था। चन्दन और केसर की चहल पहल हो रही था। अगुरु धूप गन्ध से तोरण और प्राचीर परिपूर्ण था। स्थान स्थान पर स्वर्ण शृङ्गार और रजत के नैवेद्य पात्र, बड़ी बड़ी आरतियाँ, फूल चंगेर सजाए हुए धरे थे। देव प्रतिमा रत्न आभूषणों से लदी हुई थी।

सरला ने भीड़ में घुस कर उसका दर्शन किया और देखा कि वहाँ मल्लिका की माला, पारिजात के हार, मालती की मालिका और भी अनेक प्रकार के सौरभित सुमन देव प्रतिमा के पदतल में विकीर्ण हैं। शतदल लोट रहे है और कला की

अभिव्यक्ति पूर्णदेव प्रतिमा के ओष्ठाधार में रत्न की ज्योति के साथ बिजली सी मुसक्यान रेखा खेल रही थी, जैसे उन फूलों का उपहास कर रही हो। सरला को यही विदित हुआ कि फूलों की यहाँ गिनती नहीं, पूछ नहीं। सरला अपने पाणि पल्लव में पर्ण-पुट लिये कोने में खड़ी हो गई।

भक्तवृन्द अपने नैवेद्य, उपहार देवता को अर्पण करते थे, रत्न खण्ड सुवर्ण मुद्रायें देवता के चरणों मे गिरती थी। पुजारी भक्तों को फल फूलों का प्रसाद देते थे। वे प्रसन्न होकर जाते थे। सरला से न रहा गया। उसने अपने अर्ध विकसित फूलों का पर्णपुट खोला भी नहीं। बड़ी लज्जा से, जिसमें कोई देखे नहीं, ज्यों का त्यों, फेंक दिया; परन्तु वह गिरा ठीक देवता के चरणों पर। पुजारी ने उसे सब की आँख बचा कर रख लिया। सरला फिर कोने में जाकर खड़ी हो गई। देर तक दर्शकों का आना, दर्शन करना, घण्टे का बजना, फूलों की रौंद, चन्दन केसर की कीच और रत्न-स्वर्ण की क्रीड़ा होती रही। सरला चुपचाप खड़ी देखती रही।

शयन आरती का समय हुआ दर्शक बाहर हो गये। रत्न-जटित स्वर्ण आरती लेकर पुजारी ने आरती आरम्भ करने के पहिले देव प्रतिमा के पास के फूल हटाये। रत्न आभूषण उतारे, उपहार के स्वर्ण रत्न बटोरे। मूर्ति नग्न और विरल शृङ्गार थी। अकस्मात् पुजारी का ध्यान उस पर्णपुट की ओर गया। उसने खोल कर उन थोड़े से अर्ध विकसित कुसुमों को, जो अवहेला

से सूखा ही चाहते थे, भगवान के नग्न शरीर पर यथावकाश सजा दिया। कई जन्म का अतृप्त शिल्पी ही जैसे पुजारी होकर आया है। मूर्ति की पूर्णता का उद्योग कर रहा है। शिल्पी की शेष कला की पूर्ति हो गई। पुजारी विशेष भावापन्न होकर आरती करने लगा। सरला को देख कर भी किसी ने न देखा, न पूछा कि 'तुम इस समय मन्दिर में क्यों हो ?'

आरती हो रही थी, बाहर का घण्टा बज रहा था। सरला मन में सोच रही थी, मैं दो चार फूलपत्ते ही लेकर आई। परन्तु चढ़ाने का, अर्पण करने का हृदय में गौरव था। दान की सो भी किसे ! भगवान को ! मन में उत्साह था। परन्तु हाय ! "प्रसाद" की आशा ने शुभ कामना के बदले की लिप्सा ने मुझे छोटा बना कर अभी तक रोक रक्खा। सब दर्शक चले गये, मैं खड़ी हूँ, किस लिये। अपने उन्हीं अर्पण किये हुये दो चार फूल लौटा लेने के लिये, "तो चलूँ"।

अकस्मात् आरती बन्द हुई। सरला ने जाने के लिये आशा का उत्सर्ग करके एक बार देव प्रतिमा की ओर देखा। देखा कि उसके फूल भगवान के अङ्ग पर सुशोभित हैं। वह ठिठक गई। पुजारी ने सहसा घूम कर देखा और कहा, "अरे तुम ! अभी यहीं हो, तुम्हें प्रसाद नहीं मिला, लो" जान में या अनजान में, पुजारी ने भगवान की एकावली सरला के नत-गले में डाल दी ! प्रतिमा प्रसन्न होकर हँस पड़ी।

गूदड़ साईं

"साईं! ओ साईं!!" एक लड़के ने पुकारा! साईं घूम पड़ा। उसने देखा, कि एक ८ वर्ष का बालक उसे पुकार रहा है।

आज कई दिन पर उस मुहल्ले में साईं दिखलाई पड़ा है। साईं वैरागी था,—माया नहीं, मोह नहीं। परन्तु कुछ दिनों से उसकी आदत पड़ गई थी, कि दोपहर को मोहन के घर जाता अपने दो-तीन गन्दे गूदड़ यत्न से रख कर उन्हीं पर बैठ जाता और मोहन से बातें करता। जब कभी मोहन उसे गरीब और भिखमंगा जानकर; माँ से अभिमान करके पिता की नजर बचा कर कुछ साग-रोटी लाकर दे देता; तब उस साईं के मुख पर पवित्र मैत्री के भावों का साम्राज्य हो जाता, गूदड़ साईं उस समय १० बरस के बालक समान अभिमान सराहना और उलाहना के आदान-प्रदान के बाद उसे बड़े चाव से खा लेता; मोहन की दी हुई एक रोटी उसके अक्षय-तृप्ति का कारण होती।

एक दिन मोहन के पिता ने देख लिया। वह बहुत बिगड़े। वह थे कट्टर आर्य्य समाजी, 'ढोंगी फकीरों पर उनकी साधारण और स्वाभाविक चिढ़ थी।' मोहन को डाँटा, कि वह इन लोगों के साथ बातें न किया करे। साईं हँस पड़ा, चला गया।

उसके बाद आज कई दिन पर साईं आया और वह जान-बूझकर उस बालक के मकान की ओर नहीं गया; परन्तु पढ़ कर

लौटते हुए मोहन ने उसे देख कर पुकारा! और वह लौट भी आया।

"मोहन!"

"तुम आजकल आते नहीं।"

"तुम्हारे बाबा बिगड़ते थे।"

"नहीं; तुम रोटी ले जाया करो।"

"भूख नहीं लगती।"

"अच्छा कल जरूर आना; भूलना मत!"

इतने में एक दूसरा लड़का साईं का गूदड़ खींचकर भागा। गूदड़ लेने के लिये साईं उस लड़के के पीछे दौड़ा। मोहन खड़ा देखता रहा, साईं आँखों से ओझल हो गया।

चौराहे तक दौड़ते-दौड़ते साईं को ठोकर लगी, वह गिर पड़ा सिर से खून बहने लगा। खिझाने के लिये जो लड़का उसका गूदड़ लेकर भागा था वह डर से ठिठक रहा। दूसरी ओर से मोहन के पिता ने उसे पकड़ लिया, दूसरे हाथ से साईं को पकड़ कर उठाया। नटखट लड़के के सर पर चपत पड़ने लगी; साईं उठ कर खड़ा हो गया।

'मत मारो, मत मारो चोट आती होगी!' साईं ने कहा;—और लड़के को छुड़ाने लगा! मोहन के पिता ने साईं से पूछा;—"तब चीथड़े के लिये दौड़ते क्यों थे?"

सिर फटने पर भी जिसको रुलाई नहीं आई थी; वही साईं लड़के को रोते देख कर रोने लगा। उसने कहा;—"बाबा मेरे

पास दूसरी कौन वस्तु है, जिसे देकर इन 'रामरूप' भगवान् को प्रसन्न करता !"

"तो क्या तुम इसीलिये गूदड़ रखते हो ?"

"इस चीथड़े को लेकर भागते है भगवान् और मैं उनसे लड़ कर छीन लेता हूँ; रखता हूँ फिर उन्हीं से छिनवाने के लिये; उनके मनोविनोद के लिये। सोने का खिलौना तो उचक्के भी छीनते है, पर चीथड़ों पर भगवान् ही दया करते हैं!" इतना कह कर बालक का मुँह पोंछते हुए मित्र के समान गलबाँही डाले हुए साईं चला गया।

मोहन के पिता आश्चर्य से बोले;—"गूदड़ साईं! तुम निरे गूदड़ नहीं; गूदड़ी के लाल हो!!"

गुदड़ी में लाल

दीर्घ निश्वासों का क्रीड़ा स्थल, गर्म-गर्म आँसुओं का फूटा हुआ पात्र! कराल काल की सारङ्गी, एक बुढ़िया का जीर्ण कङ्काल, जिसमें अभिमान के लय में करुणा की रागिनी बजा करती है।

अभागिनी बुढ़िया, एक भले घर की बहू बेटी थी। उसे देख कर दयालु वयोवृद्ध, हे भगवन्! कहके चुप हो जाते थे। दुष्ट कहते थे, कि अमीरी मे बड़ा सुख लूटा है। नव-युवक देश-भक्त कहते थे, देश दरिद्र है; खोखला है। अभागे देश में जन्म-ग्रहण

करने का फल भोगती है। आगामी भविष्य की उज्वलता में विश्वास रख कर हृदय के रक्त पर सन्तोष करे। जिस देश का भगवान ही नहीं; उसे विपत्ति क्या! सुख क्या!

परन्तु बुढ़िया सब से यही कहा करती थी—"मैं नौकरी करूँगी। कोई मेरी नौकरी लगा दो।" देता कौन, जो एक घड़ा जल भी नहीं भर सकती, जो स्वयं नहीं उठ कर सीधा खड़ी हो सकती थी, उससे कौन काम कराये? किसी की सहायता लेना पसन्द नहीं, किसी की भिक्षा का अन्न उसके मुख मे पैठता ही न था। लाचार होकर बाबू रामनाथ ने उसे अपनी दूकान में रख लिया। बुढ़िया को बेटी थी, वह दो पैसे कमाती थी। अपना पेट पालती थी, परन्तु बुढ़िया को विश्वास था, कि कन्या का धन खाने से उस जन्म में बिल्ली, गिरगिट और भी क्या-क्या होता है। अपना-अपना विश्वास ही है, परन्तु धार्मिक विश्वास हो या नहीं; बुढ़िया को अपने आत्माभिमान का पूर्ण विश्वास था। वह अटल रही। सर्दी के दिनों में अपने ठिठुरे हुए हाथ से वह अपने लिये पानी भर के रखती। अपनी बेटी से सम्भवतः उतनाही काम कराती जितना अमीरी के दिनों मे कभी-कभी उसे अपने घर बुलाने पर कराती।

बाबू रामनाथ उसे; मासिक वृत्ति देते थे। और भी तीन चार पैसे उसे चबेनी के, जैसे और नौकरों को मिलते थे, मिला करते थे। कई बरस बुढ़िया के बड़ी प्रसन्नता से कटे। उसे न तो दुःख था और न सुख। दुकान में झाड़ू लगा कर उसकी

पास दूसरी कौन वस्तु है, जिसे देकर इन 'रामरूप' भगवान् को प्रसन्न करता !"

"तो क्या तुम इसीलिये गूदड़ रखते हो ?"

"इस चीथड़े को लेकर भागते हैं भगवान् और मैं उनसे लड़ कर छीन लेता हूँ; रखता हूँ फिर उन्हीं से छिनवाने के लिये; उनके मनोविनोद के लिये। सोने का खिलौना तो उचक्के भी छीनते हैं, पर चीथड़ों पर भगवान् ही दया करते हैं!" इतना कह कर बालक का मुँह पोंछते हुए मित्र के समान गलबाँही डाले हुए साईं चला गया !

मोहन के पिता आश्चर्य से बोले;--"गूदड़ साईं ! तुम निरे गूदड़ नहीं; गूदड़ी के लाल हो !!"

गुदड़ी में लाल

दीर्घ निश्वासों का क्रीड़ा स्थल, गर्म-गर्म आँसुओं का फूटा हुआ पात्र ! कराल काल की सारङ्गी, एक बुढ़िया का जीर्ण कङ्काल, जिसमें अभिमान के लय में करुणा की रागिनी बजा करती है।

अभागिनी बुढ़िया, एक भले घर की बहू बेटी थी। उसे देख कर दयालु वयोवृद्ध, हे भगवन् ! कहके चुप हो जाते थे। दुष्ट कहते थे, कि अमीरी में बड़ा सुख लूटा है। नव-युवक देश-भक्त कहते थे, देश दरिद्र है; खोखला है। अभागे देश में जन्म-ग्रहण

करने का फल भोगती है। आगामी भविष्य की उज्वलता में विश्वास रख कर हृदय के रक्त पर सन्तोष करे। जिस देश का भगवान ही नहीं; उसे विपत्ति क्या! सुख क्या!

परन्तु बुढ़िया सब से यही कहा करती थी—"मैं नौकरी करूँगी। कोई मेरी नौकरी लगा दो।" देता कौन, जो एक घड़ा जल भी नहीं भर सकती, जो स्वयं नहीं उठ कर सीधा खड़ी हो सकती थी, उससे कौन काम कराये? किसी की सहायता लेना पसन्द नहीं, किसी की भिक्षा का अन्न उसके मुख में पैठता ही न था। लाचार होकर बाबू रामनाथ ने उसे अपनी दूकान में रख लिया। बुढ़िया की बेटी थी, वह दो पैसे कमाती थी। अपना पेट पालती थी, परन्तु बुढ़िया को विश्वास था, कि कन्या का धन खाने से उस जन्म में बिल्ली, गिरगिट और भी क्या-क्या होता है। अपना-अपना विश्वास ही है, परन्तु धार्मिक विश्वास हो या नहीं; बुढ़िया को अपने आत्माभिमान का पूर्ण विश्वास था। वह अटल रही। सर्दी के दिनों में अपने ठिठुरे हुए हाथ से वह अपने लिये पानी भर के रखती। अपनी बेटी से सम्भवतः उतनाही काम कराती जितना अमीरी के दिनों में कभी-कभी उसे अपने घर बुलाने पर कराती।

बाबू रामनाथ उसे; मासिक वृत्ति देते थे। और भी तीन चार पैसे उसे चबेनी के, जैसे और नौकरों को मिलते थे, मिला करते थे। कई बरस बुढ़िया के बड़ी प्रसन्नता से कटे। उसे न तो दुःख था और न सुख। दुकान में झाड़ू लगा कर उसकी

बिखरी हुई चीजों को बटोरे रहना और बैठे-बैठे थोड़ा घना जो काम हो करना बुढ़िया का दैनिक कार्य्य था। उससे कोई नहीं पूछता था कि तुमने कितना काम किया। दूकान के और कोई नौकर यदि दुष्टता बस उसे छेड़ते भी थे, तो रामनाथ उन्हें डाँट देता था।

वसन्त, वर्षा, शरद और शिशिर की सन्ध्या में जब विश्व की वेदना, जगत् की थकावट, धूसर चादर में मुँह लपेट कर क्षितिज के नीरव प्रान्त में सोने जाती थी; बुढ़िया अपनी कोठरी में लेट रहती। अपनी कमाई के पैसे से पेट भर कर, कठोर पृथ्वी के कोमल रोमावली के समान हरी-हरी दूब पर भी लेट रहना किसी-किसी के सुखो की संख्या है, वह सब को प्राप्त नहीं। बुढ़िया धन्य हो जाती थी, उसे सन्तोष होता।

एक दिन उस दुर्बल, दीन, बुढ़िया को बनिये की दूकान में लाल मिरचे फटकना पड़ा। बुढ़िया ने किसी-किसी कष्ट से उसे सँवारा। परन्तु उसकी तीव्रता वह सहन न कर सकी। उसे मूर्छा आ गई। रामनाथ ने देखा, और देखा अपने कठोर ताँबे के पैसे की ओर। उसके हृदय ने धिकारा; परन्तु अन्तरात्मा ने ललकारा। उस बनिया रामनाथ को साहस हो गया। उसने सोचा क्या इस बुढ़िया को वह "पिन्सिन" नहीं दे सकता। क्या उनके पास इतना अभाव है? अवश्य दे सकता है। उसने मन में निश्चय किया। "तुम बहुत थक गई हो, अब तुमसे काम नहीं हो सकता" बुढ़िया के देवता कूच कर गये, उसने कहा "नहीं

नहीं अभी तो मैं अच्छी तरह काम कर लेती हूँ।" "नहीं अब तुम काम करना बन्द कर दो, मैं तुमको घर बैठे दिया करूँगा।"

"नहीं बेटा! अभी तुम्हारा काम मैं अच्छा भला किया करूँगी। बुढ़िया के गले में काँटे पड़ गये थे। किसी सुख की इच्छा से नहीं पेन्सन के लोभ से भी नहीं। उसके मन में धक्का लगा। वह सोचने लगी—"मैं बिना किसी काम के किये इसका पैसा कैसे लूँगी? क्या यह भीख नहीं? आत्माभिमान झनझना उठा। हृदय-तन्त्री के तार कड़े होकर चढ़ गये। रामनाथ ने मधुरता से कहा,—"तुम घबराओ मत, तुमको कोई कष्ट न होगा।"

बुढ़िया चली आई। उसकी आँखों में आँसू न थे। आज वह सूखे काठ-सी हो गई। घर जाकर बैठी, कोठरी में अपना सामान एक ओर सुधारने लगी। बेटी ने कहा,—"माँ यह क्या करती हो?"

माँ ने कहा—"चलने की तय्यारी।"

रामनाथ अपने मन में अपनी प्रशंसा कर रहा था, अपने को धन्य समझता था। उसने समझ लिया, कि हमने आज एक अच्छा काम करने का सङ्कल्प किया है। भगवान् इससे अवश्य प्रसन्न होंगे।

बुढ़िया अपनी कोठरी में बैठी-बैठी विचारती थी, "जीवन भरके सञ्चित इस अभिमान-धन को एक मुट्ठी अन्न की भिक्षा पर बेच देना होगा। असह्य! भगवान् क्या मेरा इतना सुख भी नहीं देख सकते!" उन्हे सुनना होगा। वह प्रार्थना करने लगी।

"इस अनन्त ज्वालामयी सृष्टि के कर्त्ता क्या तुम्हीं करुणा-निधान हो ? क्या इसी डर से तुम्हारा अस्तित्व माना जाता है ? अभाव, आशा, असंतोष और आर्त्तनादों के आचार्य्य ! क्या तुम्ही दीनानाथ हो ? तुम्हीं ने वेदना का विषम जाल फैलाया है। तुम्हीं ने निष्ठुर दुःखों के सहने के लिये मानव हृदय सा कोमल पदार्थ चुना है और उसे विचारने के लिये स्मरण करने के लिये दिया है अनुभवशील मस्तिष्क ! कैसी कठोर कल्पना है। निष्ठुर ! तुम्हारी कठोर करुणा की जय हो ! मैं चिर पराजित हूँ।

सहसा बुढ़िया के शीर्ण मुख पर कान्ति आ गई। उसने देखा एक स्वर्गीय ज्योति उसे बुला रही है। वह हँसी, फिर शिथिल होकर लेट रही।

रामनाथ ने दूसरे ही दिन सुना, कि बुढ़िया चली गई। वेदना, क्लेशहीन-अक्षयलोक में उसे स्थान मिल गया। उस महीने की पेन्शन से उसका दाह कर्म्म करा दिया। फिर एक दीर्घ निश्वास छोड़कर बोला, "अमीरी की बाढ़ में न जाने कितनी वस्तु कहाँ से आकर एकत्र हो जाती है, बहुतों के पास उस बाढ़ के घट जाने पर केवल कुर्सी, कोच और टूटे गहने रह जाते हैं परन्तु बुढ़िया के पास रह गया था सच्चा स्वाभिमान गुदड़ी का लाल।"

अघोरी का मोह

"आज तो भैया, मूँग की बरफी खाने को जी नहीं चाहता, यह साग तो बड़ा ही चटकीला है। मैं तो······ ··"

"नहीं नहीं जगन्नाथ, उसे दो बरफी तो जरूर ही दे दो।"

"न न न। क्या करते हो, मैं गंगा जी में फेंक दूँगा।"

"लो तब मैं तुम्हीं को उलटे देता हूँ।" ललित ने कह कर किशोर की गर्दन पकड़ ली। दीनता से भोली और प्रेम भरी आँखों से चंद्रमा की ज्योति में किशोर ने ललित की ओर देखा। ललित ने दो बरफी उसके खुले मुख में डाल दी। उसने भरे हुए मुख से कहा,—"भैया, अगर ज्यादा खाकर मैं बीमार हो गया।" ललित ने उसके बर्फ के समान गालों पर चपत लगाकर कहा—"तो मैं सुधाबिन्दु का नाम गरलधारा रख दूँगा। उसके एक बूँद में सत्रह बरफी पचाने की ताकत है। निर्भय होकर भोजन और भजन करना चाहिये।"

शरद की नदी अपने करारों में दबकर चली जा रही है। छोटा सा बजरा भी उसी में अपनी इच्छा से बहता हुआ जा रहा है, कोई रोक टोक नहीं है। चाँदनी निखर रही थी, नाव की सैर करने के लिये ललित अपने अतिथि किशोर के साथ चला आया है। दोनों में पवित्र सौहार्द्र है। जाह्नवी की धवलता आ दोनों की स्वच्छ हँसी में चन्द्रिका के साथ मिल कर एक

कुतूहलपूर्ण जगत को देखने के लिये आवाहन कर रही है। धनी सन्तान ललित अपने वैभव में भी किशोर के साथ दीनता का अनुभव करने में बड़ा उत्सुक है। वह सानन्द अपनी दुर्बलताओं को, अपने अभाव को, अपनी करुणा को, उस किशोर बालक से व्यक्त कर रहा है। इसमें उसे सुख भी है, क्योंकि वह एक न समझने वाले हिरन के समान बड़ी बड़ी भोली आँखों से देखते हुए केवल सुन लेने वाले व्यक्ति से अपनी समस्त कथा कह कर अपना बोझ हलका कर लेता है। और उसका दुःख कोई समझने वाला व्यक्ति न सुन सका जिससे उसे लज्जित होना पड़ता, यह उसे बड़ा सुयोग मिला है।

ललित को कौन दुःख है ? उसकी आत्मा क्यों इतनी गम्भीर है ? यह कोई नहीं जानता। क्योंकि उसे सब वस्तु की पूर्णता है जितनी संसार में साधारणतः चाहिये फिर भी उसकी नील नीरद माला सी गम्भीर मुखाकृति में कभी कभी उदासीनता बिजली की तरह चमक जाती है।

ललित और किशोर बात करते करते हँसते हँसते अब थक गये हैं। विनोद के बाद अवसाद का आगमन हुआ। पान चबाते चबाते ललित ने कहा—"चलो जी अब घर की ओर।"

माझियों ने डाँड लगाना आरम्भ किया। किशोर ने कहा,—"भैया कल दिन में इधर देखने की बड़ी इच्छा है। बोलो कल आओगे ?" ललित चुप था। किशोर ने कान में चिल्ला कर कहा,—"भैया! कल आओगे न ?" ललित ने चुप्पी साध ली।

किशोर ने फिर कहा,—"बोलो भैया, नहीं तो मैं तुम्हारा पैर दाबने लगूँगा।"

ललित पैर छूने से घबरा कर बोला—"अच्छा तुम कहो कि हमको किसी दिन अपनी सूखी रोटी खिलाओगे ?"

किशोर ने कहा—"मैं तुमको खीर मोहन दिल खुश······ ललित ने कहा—"न न न·········मैं तुम्हारे हाथ से सूखी रोटी खाऊँगा—बोलो स्वीकार है। नहीं तो मैं कल नहीं आऊँगा।"

किशोर ने धीरे से स्वीकार कर लिया। ललित ने चन्द्रमा की ओर देख कर आँख बन्द कर लिया। बरौनियों की जाली से इन्दु की किरणें घुसकर फिर कोर में से मोती बन बन कर निकल भागने लगीं। यह कैसी लीला थी।

२

२५ वर्ष के बाद

कोई उसे अघोरी कहते हैं कोई योगी। मुर्दा खाते हुए उसे किसी ने नहीं देखा है किन्तु खोपड़ियों से खेलते हुए, उसके जाड़ की लिपियों को पढ़ते हुए, फिर हँसते हुये, कई व्यक्तियों ने देखा है। गाँव की स्त्रियाँ जब नहाने आती हैं तब कुछ रोटी, दूध, बचा हुआ चावल लेती आती हैं। पंचवटी के बीच में झोंपड़ी में रख जाती हैं। कोई उससे यह भी नहीं पूछता कि वह खाता है या नहीं। किसी स्त्री के पूछने पर—"बाबा आज कुछ खाओगे" अघोरी बालकों की सी सफेद आँखों से देख कर

बोल उठता—"माँ" युवतियाँ लजा जातीं। वृद्धायें करुणा से गद्गद हो जातीं और बालिकायें खिलखिला कर हँस पड़तीं तब अघोरी गंगा के किनारे उतर कर चला जाता और तीर पर से गंगा के साथ दौड़ लगाते हुये कोसों चला जाता, तब लोग उसे पागल कहते थे। किन्तु कभी २ संध्या को संतरे के रंग से जब जाह्नवी का जल रंग जाता है और पुर नगर की अट्टालिकाओं का प्रतिबिम्ब छाया-चित्र का दृश्य बनाने लगता, तब भाव विभोर होकर कल्पनाशील भावुक की तरह वही पागल निर्निमेष दृष्टि से प्रकृति के अदृश्य हाथों से बनाए हुये कोमल कारीगरी के कमनीय कुसुम को—नन्हें से फूल को—बिना तोड़े हुये उन्हीं घासों में हिलाकर छोड़ देता और स्नेह से उसी ओर देखने लगता, जैसे वह उस फूल से कोई सन्देश सुन रहा हो।

× × ×

शीत काल है। मध्याह्न है। सबेरे से अच्छा कुहरा पड़ चुका है। नौ बजने के बाद सूर्य का उदय हुआ है। छोटा सा बजरा अपनी मस्तानी चाल से जाह्नवी के शीतल जल में सन्तरण कर रहा है। बजरे की छत पर तकिये के सहारे कई बच्चे और स्त्री पुरुष बैठे हुये जल विहार कर रहे हैं।

कमला ने कहा—"भोजन कर लीजिए, समय हो गया है"। किशोर ने कहा—"बच्चों को खिला दो, अभी और दूर चलने पर हम खायँगे।" बजरा जल से कल्लोल करता हुआ चला जा

रहा है। किशोर शीतकाल के सूर्य की किरणों से चमकती हुई जल लहरियों को उदासीन अथच स्थिर दृष्टि से देखता हुआ न जाने कब की और कहाँ की बातें सोच रहा है। लहरें क्यों उठती हैं और विलीन होती हैं, बुदबुद और जल राशि का क्या संबंध है ? मानव जीवन बुदबुद है कि तरङ्ग ? बुदबुद है तो विलीन होकर फिर क्यों प्रकट होता है। मलीन अंश फेन कुछ जलबिन्दु से मिलकर बुदबुद का अस्तित्व क्यों बना देता है। क्या वासना और शरीर का भी यही सम्बन्ध है ? वासना की शक्ति ! कहाँ कहाँ किस रूप में अपनी इच्छा चरितार्थ करती हुई जीवन को अमृत गरल का संगम बनाती हुई अनन्त काल तक दौड़ लगायेगी। कभी अवसान होगा कभी अनन्त जलराशि में विलीन होकर अपनी अखण्ड समाधि लेगी ?........ हैं क्या सोचने लगा ? व्यर्थ की चिन्ता। उहँ।"

नवल ने कहा—"बाबा ऊपर देखो। उस वृत्त की जड़ें कैसी अद्भुत फैली हुई हैं।"

किशोर ने चौंक कर देखा। वह जीर्ण वृत्त कुछ अनोखा था, और भी कई वृत ऊार के करारे को उसी तरह घेरे हुए हैं, यहाँ अघोरी की पंचवटी है। किशोर ने कहा—"नाव रोक दो। हम यहीं ऊपर चल कर ठहरेंगे। वहीं जलपान करेंगे।" थोड़ी देर में बच्चों के साथ किशोर और कमला उतर कर पंचवटी के करारे पर चढ़ने लगे।

× × ×

सब लोग खा पी चुके। अब विश्राम करके नाव की ओर पलटने की तैयारी है। मलीन अङ्ग किन्तु पवित्रता की चमक, मुख पर रुक्षकेश, कौपीनधारी एक व्यक्ति आकर उन लोगों के सामने खड़ा हो गया।

"मुझे कुछ खाने को दो" दूर खड़ा हुआ गाँव का एक बालक उसे माँगते देख कर चकित हो गया। वह बोला, "बाबूजी यह पंचवटी के अघोरी हैं।"

किशोर ने एक बार उसकी ओर देखा, फिर कमला से कहा —"कुछ बचा हो तो इसे दे दो।"

कमला ने देखा तो कुछ परावठे बचे थे। उसने निकाल कर दे दिया।

किशोर ने पूछा—"और कुछ नहीं है?" उसने कहा, "नहीं"।

अघोरी उस सूखे परावठे को लेकर हँसने लगा। बोला— "हमको और कुछ न चाहिये।" फिर एक खेलते हुये बच्चे को गोद में उठा कर चूमने लगा। किशोर को बुरा लगा। उसने कहा—"उसे छोड़ दो, तुम चले जाओ।"

अघोरी ने हताश दृष्टि से एक बार किशोर की ओर देखा और बच्चे को रख दिया। उसकी आँखें भरी थीं, किशोर को कुतूहल हुआ। उसने कुछ पूछना चाहा, किन्तु वह अघोरी धीरे धीरे चला गया। किशोर कुछ अव्यवस्थित हो गये। वह शीघ्र नाव पर सब को लेकर चले आये।

नाव नगर की ओर चली। किन्तु किशोर का हृदय भारी हो गया था। वह बहुत विचारते थे, कोई बात स्मरण करना चाहते थे, किन्तु वह ध्यान में नहीं आती थी—उनके हृदय में कोई भूली हुई बात चिकोटी काटती थी किन्तु वह विवश थे। उन्हें स्मरण नहीं होता था। मातृस्नेह से भरी हुई कमला ने सोचा कि हमारे बच्चों को देखकर अघोरी को मोह हो गया।

पाप की पराजय

घने हरे कानन के हृदय में पहाड़ी नदी झिरझिर करती बह रही है। गाँव से दूर, बन्दूक लिये हुए, शिकारी के वेष में, घनश्याम दूर बैठा है। एक निरीह शशक मारकर प्रसन्नता से पतली पतली लकड़ियों में उसका जलना देखता हुआ प्रकृति की कमनीयता के साथ वह बड़ा अन्याय कर रहा है। किन्तु, उसे दायित्व विहीन विचारपति की तरह बेपरवाही है। जंगली जीवन का आज उसे बड़ा अभिमान है। अपनी सफलता पर आप ही मुग्ध होकर मानव समाज की शैशवावस्था की पुनरावृत्ति करता हुआ निर्दय घनश्याम उस अधजले जन्तु से उदर भरने लगा। तृप्त होने पर वन की सुधि आई। चकित होकर देखने लगा कि यह कैसा रमणीय देश है। थोड़ी देर में तंद्रा ने उसे दबा दिया। वह कोमल वृत्ति विलीन हो गई। स्वप्न ने उसे फिर उद्वेलित किया। निर्मल जल-धारा से धुले हुये पत्तों का घना कानन, स्थान २

पर कुसुमित कुञ्ज, आन्तरिक और स्वाभाविक आलोक में उन कुञ्जों की कोमल छाया, हृदय-स्पर्श-कारी शीतल पवन का संचार, अस्फुट आलेख्य के समान उसके सामने स्फुरित होने लगे।

घनश्याम को सुदूर से मधुर झंकार सी सुनाई पड़ने लगी। उसने अपने को व्याकुल पाया। देखा तो एक अद्भुत दृश्य! इन्द्रनील की पुतली फूलों से सजी हुई झरने के उस पार पहाड़ी से उतर कर बैठी है। उसके सहज-कुञ्चित केश से वन्य कुरुवक की कलियाँ कूदकूद कर जल लहरियों से क्रीड़ा कर रही हैं। घनश्याम को वह वन देवी सी प्रतीत हुई। यद्यपि उसका रंग कंचन के समान नहीं, फिर भी गठन साँचे में ढला हुआ है। आकर्ण विस्तृत नेत्र नहीं, तौ भी उनमें एक स्वाभाविक राग है। वह कवि की कल्पना सी कोई स्वर्गीया आकृति नहीं, प्रत्युत एक भिल्लिनी है। तब भी, उसमें सौन्दर्य नही है यह कोई साहस के साथ नहीं कह सकता। घनश्याम ने तन्द्रा से चौंककर उस सहज सौन्दर्य को देखा और विषम समस्या में पड़कर यह सोचने लगा—"क्या सौन्दर्य उपासना की ही वस्तु है, उपभोग की नहीं?" इस प्रश्न को हल करने के लिये उसने हंटिंग कोट के पाकेट का सहारा लिया। क्लान्ति-हारिणी का पान करने पर उसकी आँखों पर रंगीन चश्मा चढ़ गया। उसकी तन्द्रा का यह काल्पनिक स्वर्ग धीरे धीरे विलास-मंदिर में परिणत होने लगा। घनश्याम ने देखा कि अद्भुत रूप, यौवन की चरम सीमा और स्वास्थ्य का मनोहर संस्करण, रंग बदल कर, पाप ही सामने आया।

पाप का यह रूप, जब वह वासना को फाँस कर अपनी ओर मिला चुकता है, बड़ा कोमल अथच कठोर एवं भयानक होता है और तब पाप का मुख कितना सुन्दर होता है! सुन्दर ही नहीं, आकर्षक भी, वह भी कितना प्रलोभन-पूर्ण और कितना शक्तिशाली जो अनुभव मे नहीं आ सकता। उसमें विजय का दर्प भरा रहता है। वह अपने एक मृदु मुसकान से सुदृढ़ विवेक की अवहेलना करता है। घनश्याम ने धोखा खाया और क्षण भर में वह सरल सुखमा विलुप्त होकर उद्दीपन का अभिनय करने लगी। यौवन ने भी उस समय काम से मित्रता कर ली। पाप की सेना और उसका आक्रमण प्रबल हो चला। विचलित होते ही घनश्याम को पराजित होना पड़ा। वह आवेश मे बाँहें फैला कर झरने को पार करने लगा।

नील की पुतली ने उस ओर देखा भी नहीं। युवक की मांसल पीन भुजायें उसे आलिंगन किया ही चाहती थीं कि ऊपर पहाड़ी पर से शब्द सुनाई पड़ा—"क्यों नीला, कब तक यहीं बैठी रहेगी? मुझे देर हो रही है। चल घर चलें।"

घनश्याम ने सिर उठा कर देखा तो ज्योतिर्मयी दिव्य मूर्ति रमणी सुलभ पवित्रता का ज्वलन्त प्रमाण, केवल यौवन से ही नहीं, बल्कि कला की दृष्टि से भी, दृष्टिगत हुई। किन्तु आत्म-गौरव का दुर्ग किसी की सहज पाप वासना को वहाँ फटकने नहीं देता था। शिकारी घनश्याम लज्जित तो हुआ ही, पर वह भयभीत भी था। पुण्य प्रतिमा के सामने पाप की पराजय

हुई। नीला ने घबरा कर कहा,—"रानी जी, आती हूँ। जरा मैं थक गई थी।" रानी और नीला दोनों चली गईं। अबकी बार घनश्याम ने फिर सोचने का प्रयास किया—"क्या सौन्दर्य उपभोग के लिये नहीं, केवल उपासना के लिए है?" खिन्न होकर वह घर लौटा। किन्तु बार बार वह घटना याद आती रही। घनश्याम कई बार उस झरने पर क्षमा माँगने गया। किन्तु वहाँ उसे कोई न मिला।

२

जो कठोर सत्य है, जो प्रत्यक्ष है, जिसकी प्रचण्ड लपट अभी नदी में प्रतिभाषित हो रही है, जिसकी गर्मी इस शीतल रात्रि में भी आंक में अनुभूति हो रही है, उसे असत्य या उसे कल्पना कह कर उड़ा देने के लिये घनश्याम का मन हठ कर रहा है।

थोड़ी देर पहले जब (नदी पर से मुक्त आकाश में एक टुकड़ा बादल का उठ आया था) चिता लग चुकी थी, घनश्याम आग लगाने को प्रस्तुत था। उसकी स्त्री चिता पर अतीत निद्रा में निमग्न थी। निठुर हिन्दू शास्त्र की कठोर आज्ञा से जब वह विद्रोह करने लगा था, उसी समय घनश्याम को सान्त्वना हुई। उसने अचानक मूर्खता से अग्नी लगा दी। उसे ध्यान हुआ कि बादल बरस कर निर्दय चिता को बुझा देंगे, उसे जलने न देंगे। किन्तु व्यर्थ? चिता ठंडी होकर और भी ठहर ठहर कर सुलगने लगी, क्षण भर में जल कर राख न होने पाई।

घनश्याम ने हृदय में सोचा कि यदि हम मुसलमान या ईसाई होते तो ? आह ! फूलों से मिली हुई मुलायम मिट्टी में इसे सुला देते, सुन्दर समाधि बनाते, आजीवन प्रति सन्ध्या को दीप जलाते, फूल चढ़ाते, कविता पढ़ते, रोते, आँसू बहाते, किसी तरह दिन बीत जाते। किन्तु यहाँ कुछ भी नहीं हत्यारा समाज ! कठोर धर्म्म ! कुत्सित व्यवस्था ! इनसे क्या आशा ? चिता जलने लगी।

३

श्मशान से लौटते समय घनश्याम ने साथियों को छोड़ कर जंगल की ओर पैर बढ़ाया। जहाँ प्रायः शिकार खेलने जाया करता, वहीं जाकर बैठ गया। आज वह बहुत दिनों पर इधर आया है। कुछ ही दूरी पर देखा कि साखू के वृक्ष की छाया में एक सुकुमार शरीर पड़ा है। सिरहाने तकिया का काम हाथ दे रहा है। घनश्याम ने अभी कड़ी चोट खायी है। करुणाकमल का उसके आर्द्र मानस में विकास हो गया था। उसने समीप जाकर देखा कि वह रमणी और कोई नहीं है, वही रानी है, जिसे उसने बहुत दिन हुये एक अनोखे ढंग में देखा था। घनश्याम की आहट पाते ही रानी उठ बैठी। घनश्याम ने पूछा,—"आप कौन हैं ? क्यों यहाँ पड़ी हैं ?"

रानी—"मैं केतकी वन की रानी हूँ।"

"तब ऐसे क्यों ?"

"समय की प्रतीक्षा में पड़ी हूँ।"

"कैसा समय ?"

"आप से क्या काम ? क्या शिकार खेलने आये हैं ?"

"नहीं देवी ! आज स्वयं शिकार हो गया हूँ।"

"तब तो आप शीघ्र ही शहर की ओर पलटेंगे। क्या किसी भिल्लनी के नयन वाण लगे हैं ? किन्तु नहीं, मैं भूल कर रही हूँ। उन बेचारियों को क्षुधा ज्वाला ने जला रक्खा है। ओह ! वह गढ़े में धँसी हुई आँखें अब किसी को आकर्षित करने का सामर्थ्य नहीं रखतीं ! हे भगवन्, मैं किस लिये पहाड़ी से उतर कर आई हूँ ?"

"देवी ! आपका अभिप्राय क्या है, मैं समझ न सका। क्या ऊपर अकाल है, दुर्भिक्ष है ?"

"नहीं नहीं, ईश्वर का प्रकोप है, पवित्रता का अभिशाप है, करुणा की बीभत्स मूर्ति का दर्शन है।"

"तब आपकी क्या इच्छा है।"

"मैं वहाँ की रानी हूँ। मेरे वस्त्र आभूषण भण्डार में जो कुछ था सब बेच कर तीन महीने किसी प्रकार उन्हें खिला सकी। अब मेरे पास केवल इस वस्त्र को छोड़ कर और कुछ नहीं रहा कि विक्रय करके एक भी क्षुधित पेट की ज्वाला बुझाती, इसलिए......।"

"क्या ?"

"शहर चलूँगी। सुना है कि वहाँ रूप का भी दाम मिलता है। यदि कुछ मिल सके...... ....."

"तब ?"

"तो इसे भी बेच दूँगी। अनाथ बालकों को इससे कुछ तो सहायता पहुँच सकेगी। क्यों, क्या मेरा रूप बिकने योग्य नहीं है" ?

युवक घनश्याम इसका उत्तर देने में असमर्थ था। कुछ दिन पहले वह अपना सर्वस्व देकर भी ऐसा रूप क्रय करने को प्रस्तुत हो जाता। आज वह अपनी स्त्री के वियोग में बड़ा ही सीधा, धार्मिक निरीह एवं परोपकारी हो गया था। आर्त्त मुमुक्षु की तरह उसे न जाने किस वस्तु की खोज थी।

घनश्याम ने कहा—"मैं क्या उत्तर दूँ ?"

"क्यों क्या दाम न लगेगा ? हाँ तुम भी आज किस वेश में हो ? क्या सोचते हो ? बोलते क्यों नहीं ?"

"मेरी स्त्री का शरीरान्त हो गया।"

"तब तो अच्छा हुआ, तुम नगर के धनी हो। तुम्हें तो रूप की आवश्यकता होती होगी क्या इसे क्रय करोगे ?"

घनश्याम ने हाथ जोड़ कर सिर नीचा कर लिया। तब उस रानी ने कहा—"उस दिन तो एक भिल्लिनी के रूप पर मरते थे। क्यों आज क्या हुआ ?"

"देवी, मेरा साहस नहीं है—वह पाप का वेग था।"

"छिः पाप के लिये साहस था और पुण्य के लिये नहीं ?"

घनश्याम रो पड़ा और बोला—"क्षमा कीजिए पुण्य किस

प्रकार सम्पादित होता है, मुझे नहीं मालूम। किन्तु इसे पुण्य कहने में . ...।"

"संकोच होता है। क्यों ?"

इसी समय दो-तीन बालक, चार-पाँच स्त्रियाँ और छः सात भील अनाहार-क्लिष्ट, शीर्ण कलेवर पवन के बल से हिलते डोलते रानी के सामने आकर खड़े हो गये।

रानी ने कहा—"क्यों अब पाप की परिभाषा करोगे ?"

घनश्याम ने काँप कर कहा—"नहीं, प्रायश्चित्त करूँगा, उस दिन के पाप का प्रायश्चित्त।"

युवक घनश्याम वेग से उठ खड़ा हुआ, बोला—"बहिन, तुमने मेरे जीवन को अवलम्ब दिया है। मैं निरुद्देश्य हो रहा था, कर्त्तव्य नहीं सूझ पड़ता था। आपको रूप विक्रय न करना पड़ेगा। देवी ! मैं सन्ध्या तक आ जाऊँगा।"

"सन्ध्या तक ?"

"और भी पहले।"

बालक रोने लगे—"रानी माँ, अब नहीं रहा जाता।" घनश्याम से भी नहीं रहा गया, वह भागा।

घनश्याम की पापभूमि, देखते देखते गाड़ी और छकड़ों से भर गई। बाजार लग गया, रानी के प्रबन्ध में घनश्याम ने वहीं पर अकाल पीड़ितों की सेवा आरम्भ कर दी।

जो घटना उसे बार-बार स्मरण होती थी उसी का यह प्रायश्चित्त था। घनश्याम ने उसी भिल्लिनी को प्रधान प्रबन्ध करने

वाली देख कर आश्चर्य किया। उसे न जाने क्यों हर्ष और उत्साह दोनों हुये।

सहयोग

मनोरमा, एक भूल से सचेत होकर जब तक उसे सुधारने में लगती है, तब तक उसकी दूसरी भूल उसे अपनी मनुष्यता पर ही सन्देह दिलाने लगती है। प्रतिदिन प्रतिक्षण भूल की अविच्छिन्न शृङ्खला मानव जीवन को जकड़े हुए है, यह उसने कभी हृदयङ्गम नहीं किया। भ्रम को उसने शत्रु के रूप में देखा। वह उससे प्रति-पद शङ्कित और सन्दिग्ध रहने लगी! उसकी स्वाभाविक सरलता जो बनावटी भ्रम उत्पन्न कर दिया करती थी, और उसके अस्तित्व में सुन्दरता पालिश कर दिया करती थी अब उससे बिछुड़ने लगी। वह एक बनावटी रूप और आवभगत को अपना आभरण समझने लगी।

मोहन, एक हृदय-हीन युवक उसे दिल्ली से ब्याह लाया था। उसकी स्वाभाविकता पर अपने आतङ्क से क्रूर शासन करके उसे आत्मचिन्ता शून्य पति-गत-प्राणा बनाने की उत्कट अभिलाषा से हृदय हीन कल से चलती फिरती हुई पुतली बना डाला और वह अपनी इसी में विजय और पौरुष की पराकाष्ठा समझने लगा था।

× × ×

धीरे धीरे अब मनोरमा में अपना निज का कुछ नहीं रहा। वह उसे एक प्रकार से भूल सी गई थी। दिल्ली के समीप का यमुना तट का वह गाँव जिसमें वह पली थी, बढ़ी थी, अब उसे कुछ विस्मृत सा हो चला था। वह ब्याह करने के बाद द्विरागमन के अवसर पर जब से अपनी ससुराल आई थी, वह एक अद्भुत दृश्य था। मनुष्य समाज में पुरुषों के लिए वह कोई बड़ी बात न थी, किन्तु जब उन्हें घर छोड़ कर कभी किसी काम में परदेश जाना पड़ता है, तभी उनको उस कथा के अधम अंश का आभास सूचित होता है। वह सेवा और स्नेहवृत्ति वाली स्त्रियाँ ही कर सकती हैं। जहाँ अपना कोई नहीं है, जिससे कभी की जान पह-चान नहीं, जिस स्थान पर केवल वधू दर्शन का कुतूहल मात्र उसकी अभ्यर्थना करने वाला है, वहाँ वह रोते और सिसकते किस साहस से आई और किसी को अपने रूप से, किसी को विनय से, किसी को स्नेह से उसने वश करना आरम्भ किया। उसे सफलता भी मिली। जिस तरह एक महा उद्योगी किसी भारी अनुसन्धान के लिये अपने घर से अलग होकर अपने सहारे अपना साधन बनाता है, वा कथा सरित्सागर के साहसिक लोग बैताल या विद्याधरत्व की सिद्धि के असम्भवनीय साहस का परिचय देते हैं। वह इन प्रति दिन साहसकारिणी मनुष्य जाति की किशोरियों के सामने क्या है? जिनकी बुद्धि और अवस्था कुछ भी इसके अनुकूल नहीं है।

हिन्दू शास्त्रानुसार शूद्रा स्त्री मनोरमा ने आश्चर्य पूर्वक ससु-

राल में द्वितीय जन्म ग्रहण कर लिया। उसे द्विजन्मा कहने में कोई बाधा नहीं है।

१

मेला देख कर मोहन लौटा। उसकी अनुरागलता, उसको प्रगल्भा प्रेयसी ने उसका साथ नहीं दिया। सम्भवतः वह, किसी विशेष आकर्षक पुरुष के साथ सहयोग करके चली गई। मेला फीका हो गया। नदी के पुल पर एक पत्थर पर वह बैठ गया। अँधेरी रात धीरे धीरे गम्भीर होती जा रही थी। कोलाहल, जनरव और रसीली तानें विरल हो चलीं। ज्यों ज्यों एकान्त होने लगा मोहन की आतुरता बढ़ने लगी। नदी तट की शरद रजनी में एकान्त, किसी की अपेक्षा करने लगा। उसका हृदय चञ्चल हो चला। मोहन ने सोचा इस समय क्या करें। विनोदी हृदय उत्सुक हुआ। वह चाहे जो हो किसी की संगति को इस समय आवश्यक समझने लगा। प्यार न करने पर भी मनोरमा का ही ध्यान आया। समस्या हल होते देख कर वह घर की ओर चल पड़ा।

२

मनोरमा का त्योहार अभी बाक़ी था। नगर भर में एक नीरव अवसाद हो गया था किन्तु मनोरमा के हृदय में कोलाहल हो रहा था। ऐसे त्योहार के दिन भी वह मोहन को न खिला सकी थी। लैम्प के मन्द प्रकाश में खिड़की के जंगले के पास

वह बैठी रही। विचारने को कुछ भी उसके पास न था। केवल स्वामी की आशा में दास के समान वह उत्कंठित बैठी थी। दरवाजा खटका, वह उठी, चतुरा दासी से भी अच्छी तरह उसने स्वामी की अभ्यर्थना, सेवा, आदर और सत्कार करने में अपने को लगा दिया। मोहन चुपचाप अपने ग्रासों के साथ वाग्युद्ध और दन्तघर्षण करने लगा। मनोरमा ने भूल कर भी यह न पूछा कि तुम इतनी देर कहाँ थे? क्यों नहीं आये? न वह रूठी, न वह ऐंठी, गुरुमान की कौन कहे लघुमान का छींटा नहीं। मोहन को यह और असह्य हो गया। उसने समझा कि हम इस योग्य भी नहीं रहे कि कोई हम से यह पूछे कि—"तुम कहाँ इतनी देर मरते थे।" पत्नी का अपमान उसे और यन्त्रणा देने लगा। वह भोजन करते करते अकस्मात् रुक गया। मनोरमा ने पूछा—"क्या दूध ले आऊँ? अब और कुछ नहीं लीजिएगा?"

साधारण प्रश्न था। किन्तु मोहन को प्रतीत हुआ कि यह तो अतिथि को सी अभ्यर्थना है, गृहस्थ की अपने घर की सी नहीं। वह चट बोल उठा—"नहीं आज दूध न लूँगा।" किन्तु मनोरमा तो तब तक दूध का कटोरा लेकर सामने आ गई, बोली—"थोड़ा सा लीजिए। अभी गरम है।"

मोहन बार बार सोचता था कि कोइ ऐसी बात निकले जिसमें मुझे कुछ करना पड़े और मनोरमा मानिनी बने, मैं उसे मनाऊँ। किन्तु मनोरमा में वह मिट्टी ही नहीं रही। मनोरमा तो कल की

पुतली हो गई थी। मोहन ने—'दूध अभी गरम है' इसी में से देर होने का व्यङ्ग निकाल लिया और कहा कि—"हाँ आज मेला देखने चला गया था, इसी में देर हुई।"

किन्तु वहाँ कैफियत तो कोई लेता न था, देने के लिए प्रस्तुत अवश्य था। मनोरमा ने कहा—"नहीं, अभी देर तो नहीं हुई। आध घंटा हुआ होगा कि दूध उतारा गया है।"

मोहन हताश हो गया। चुपचाप पलँग पर जा लेटा। मनोरमा ने उधर ध्यान भी नहीं दिया। वह चतुरता से गृहस्थी की सारी वस्तुओं को समेटने लगी। थोड़ी देर में इससे निबट कर वह अपनी भूल समझ गई। चट पान लगाने बैठ गई। मोहन ने यह देख कर कहा—"नहीं, मैं पान इस समय न खाऊँगा।"

मनोरमा ने भयभीत स्वर से कहा—"बिखरी हुई चीजें इकट्ठी न कर लूँ तो बिल्ली चूहे उसे खराब कर देते। थोड़ी देर हुई है क्षमा कीजिये। दो पान तो अवश्य खा लीजिए।"

बाध्य होकर मोहन को दो पान खाना पड़ा। अब मनोरमा पैर दबाने बैठी। वेश्या से तिरस्कृत मोहन घबरा उठा। वह इस सेवा से कब छुट्टी पावे? इस सहयोग से क्या बस चले? उसने विचारा कि मनोरमा को मैंने ही तो ऐसा बनाना चाहा था। अब वह ऐसी हुई तो मुझे अब विरक्ति क्यों है। इसके चरित्र का यह अंश क्यों नहीं रुचता—किसी ने उसके कान में धीरे से कहा—"तुम तो अपनी स्त्री को अपनी दासी बनाना चाहते थे,

जो वास्तव में तुम्हारी अन्तरात्मा को ईप्सित नहीं था। तुम्हारी कुप्रवृत्तियों की वह उत्तेजना थी कि वह तुम्हारी चिर सङ्गिनी न होकर दासी के समान आज्ञाकारिणी मात्र रहे। वही हुआ। अब क्यों झँखते हो।"

अकस्मात् मोहन उठ बैठा। मोहन और मनोरमा एक दूसरे के पैर पकड़े हुये थे।

पत्थर की पुकार

१

नवल और विमल दोनों बात करते हुए टहल रहे थे। विमल ने कहा—

"साहित्य सेवा भी एक व्यसन है।"

"नहीं मित्र! यह तो विश्व भर की एक मौन सेवा समिति का सदस्य होना है।"

"अच्छा तो फिर बताओ तुमको क्या भला लगता है? कैसा साहित्य रुचता है।"

"अतीत और करुण का जो अंश साहित्य मे हो वह मेरे हृदय को आकर्षित करता है।"

नवल की गम्भीर हँसी कुछ तरल हो गई। उन्होंने कहा—

"इससे विशेष और हम भारतीयों के पास धरा क्या है। स्तुत्य अतीत की घोषणा और वर्तमान की करुणा, इसी

का गान हमें आता है। बस यह भी एक भाँग गाँजे की तरह नशा है।" विमल का हृदय स्तब्ध हो गया। चिर-प्रसन्न-वदन मित्र को अपनी भावना पर इतना कठोर आघात करते हुए कभी भी उसने नहीं देखा था। वह कुछ विरक्त हो गया। मित्र ने कहा—"कहाँ चलोगे ?" उसने कहा—"चलो मैं थोड़ा घूम कर गंगा तट पर मिलूँगा।" नवल भी एक ओर चला गया।

२

चिंता में मग्न विमल एक ओर चला। नगर के एक सूने महल्ले की ओर जा निकला। एक टूटी चारपाई अपने फटे झिलँगे में लिपटी पड़ी है। उसीके बगल में दीन कुटी फूस से ढँकी हुई, अपना दरिद्र मुख भिक्षा के लिये खोले हुए बैठी है। दो एक टाँकी और हथौड़े, पानी की प्याली, कूँची, दो काले शिलाखण्ड परिचारक की तरह उस दीन कुटी को घेरे पड़े हैं। किसी को न देख कर एक शिलाखण्ड पर न जाने किस के कहने से विमल बैठ गया। यह चुपचाप था। विदित हुआ कि दूसरा पत्थर कुछ धीरे धीरे कह रहा है। वह सुनने लगा।

"मैं अपने सुखद शैल में संलग्न था। शिल्पी! तूने मुझे क्यों यहाँ ला पटका, यहाँ तो मानव की हिंसा का गर्जन मेरे कठोर वक्षःस्थल का भेदन कर रहा है। मैं तेरे प्रलोभन में पड़ कर चला आया था, कुछ तेरे बाहुबल से नहीं, क्योंकि मेरी प्रबल कामना थी कि मैं एक सुन्दर मूर्ति में परिणत हो जाऊँ। उसके

लिये अपने वक्षःस्थल को क्षत विक्षत कराने को प्रस्तुत था। तेरी टाँकी से हृदय चिराने में प्रसन्न था कि कभी मेरी इस सहन-शीलता का पुरस्कार, सराहना के रूप में मिलेगा और मेरी मौन मूर्ति अनन्त काल तक उस सराहना को चुपचाप गर्व से स्वीकार करती रहेगी। किन्तु निष्ठुर! तूने अपने द्वार पर मुझे फूटे हुए ठीकरे की तरह ला पटका। अब मैं यहीं पर पड़ा पड़ा कब तक अपने भविष्यत् की गणना करूँगा।"

पत्थर की करुणामयी पुकार से विमल को क्रोध का सञ्चार हुआ। और वास्तव में इस पुकार में अतीत और करुणा दोनों का मिश्रण था, जोकि उसके चित्त का सरल विनोद था। विमल भाव प्रवण होकर रोष से गर्जन करता हुआ पत्थर की ओर से अनुरोध करने को शिल्पी के दरिद्र कुटीर में घुस पड़ा।

"क्यों जी तुमने इस पत्थर को कितने दिनों से यहाँ ला रक्खा है। भला वह भी अपने मन में क्या समझता होगा? सुस्त होकर पड़े हो उसकी कोई सुन्दर मूर्ति क्यों न बना डाली?" विमल ने रुक्ष स्वर से कहा।

पुरानी गुदड़ी में ढँकी हुई जीर्ण-शीर्ण मूर्ति खाँसी से काँप कर बोली—"बाबू जी! आपने तो मुझे कोई आज्ञा नहीं दी थी।"

"अजी तुम बना लिये होते फिर कोई न कोई तो इसे ले लेता। भला देखो तो यह पत्थर कितने दिनों से पड़ा तुम्हारे नाम को रो रहा है।" विमल ने कहा। शिल्पी ने कफ निकाल कर गला साफ करते हुए कहा—"आप लोग अमीर आदमी हैं अपने

कोमल श्रवणेन्द्रियों से पत्थर का रोना, लहरों का संगीत, पवन की हँसी इत्यादि कितनी सूक्ष्म बातें सुन लेते हैं। और उसके पुकार में दत्तचित्त हो जाते हैं। करुणा से पुलकित होते है। किन्तु क्या कभी दुखी हृदय के नीरव क्रन्दन को भी अन्तरात्मा के श्रवणेन्द्रिय को सुनने देते हैं, जो करुणा का काल्पनिक नहीं किन्तु वास्तविक रूप है ?"

विमल के अतीत और करुण सम्बन्धी समस्त सद्भाव कठोर कर्मण्यता का आवाहन करने के लिये उसीसे विद्रोह करने लगे ! वह स्तब्ध हो कर उसी मलीन भूमि पर बैठ गया।

उस पार का योगी

सामने सन्ध्या-धूसरित जल की एक चादर बिछी है। उसके बाद बालू की बेला है, उसमें अठखेलियाँ करके लहरों ने सीढ़ी बना दी है। कौतुक यह है कि उस पर भी हरी हरी दूब जम गई है। उस बालू की सीढ़ी की ऊपरी तह पर जाने कब से एक शिला पड़ी है। कई वर्षाओं ने उसे अपने पेट में पचाना चाहा, पर वह कठोर शिला गल न सकी, फिर भी निकल ही आती थी। नन्दलाल उसे अपने शैशव से ही देखता था। छोटी सी नदी जो उसके गाँव से सट कर बहती थी उसी के किनारे वह अपनी सितारी लेकर पश्चिम की धूसर आभा में नित्य जाकर बैठ जाता। जिस रात को चाँदनी निकल

आती उसमें देर तक और अँधेरी रात के प्रदोष में जब तक अन्धकार नहीं हो जाता था, बैठकर सितारी बजाता अपनी टपरियाँ में चला जाता था।

नन्दलाल अन्धेरे में डरता न था। किन्तु चन्द्रिका में देर तक किसी अस्पष्ट छाया को देख सकता था। इसलिये, आज भी उसी शिला पर वह मूर्ति बैठी है। गैरिक वसन की आभा सान्ध्य सूर्य से रञ्जित नभ से होड़ कर रही है। दो चार लटें इधर उधर मांसल अंश पर पवन के साथ खेल रही हैं। नदी के किनारे प्रायः पवन का बसेरा रहता है, इसीसे यह सुविधा है। जब से शैशव सहचरी नलिनी से नन्दलाल का वियोग हुआ है वह अपनी सितारी से ही मन बहलाता है, सो भी एकान्त में क्योंकि नलिनी से भी वह किसी के सामने मिलने पर सुख नहीं पाता था। किन्तु हाय रे सुख। उत्तेजनामय आनन्द को अनुभव करने के लिये एक साक्षी भी चाहिये। बिना किसी दूसरे को अपना सुख दिखाये हृदय भलि भाँति से गर्व का अनुभव नहीं कर पाता। चन्द्र किरण, नदी तरंग, मलय हिल्लोल, कुसुम सुरभि और रसाल वृक्ष के साथ ही नन्दलाल को यह भी विश्वास था कि उस पार का योगी भी कभी कभी उस सितारी की मींड़ से मरोड़ खाता है। लटें उसके कपोल पर ताल देने लगती हैं।

चाँदनी निखरी थी। आज अपनी सितारी के साथ नन्दलाल

भी गाने लगा था। वह प्रणय संगीत था—भावुकता और काल्पनिक प्रेम का संभार बड़े वेग से उच्छ्वसित हुआ। अन्तःकरण से दबी हुई तरलवृत्ति जो विस्मृत स्वप्न के समान हलका प्रकाश देती थी आज न जाने क्यों गैरिक निर्झर की तरह उबल पड़ी। जो वस्तु आज तक मैत्री का सुख चिन्ह थी—जो सरल हृदय का उपहार था—जो उदारता की कृतज्ञता थी—उसने ज्वाला, लालसापूर्ण प्रेम का रूप धारण किया। संगीत चलने लगा।

"अरे कौन है..... ...मुझे बचाओ ....आह . .. पवन ने उपयुक्त दूत की तरह यह सन्देश नन्दलाल के कानों तक पहुँचाया। वह व्याकुल होकर सितारी छोड़ कर दौड़ा। नदी में फाँद पड़ा। उसके कानों में नलिनी का सा स्वर सुनाई पड़ा। नदी छोटी थी—खरस्रोता थी। नन्दलाल हाथ मारता हुआ लहरों को चीर रहा था। उसके बाहु पाश में एक सुकुमार शरीर आ गया।

× × ×

चन्द्रकिरणों और लहरियों को बात चीत करने का एक आधार मिला। लहरी कहने लगी—"अभागे! तू इस दुखिया नलिनी को बचाने क्यों आया, इसने तो आज अपने समस्त दुःखों का अन्त कर दिया था।"

किरण—"क्यों जी तुम लोगों ने नन्दलाल को बहुत दिन तक बीच में बह कर हल्ला गुल्ला मचाकर, बचाया था।"

लहरी—"और तुम्हीं तो प्रकाश डाल कर उसे सचेत कराती रही हो।"

किरण—"आज तक उस बेचारे को अंधेरे में रक्खा था, केवल आलोक की कल्पना करके वह अपने आलेख्य पट को उद्भासित कर लेता था। उस पार का योगी सुदूरवर्ती परदेशी की रम्य स्मृति के शान्त तपोवन का दृश्य था।"

लहरी—"पगली! सुख स्वप्न के सदृश और आशा में आनंद के समान मैं बीच में पड़ी पड़ी उसके सरल स्नेह का बहुत दिनों तक संचय करती रही—आन्तरिक आकर्षणपूर्ण सम्मिलन होने पर भी, वासना रहित निष्काम सौंदर्यमय व्यवधान बन कर मैं दोनों के बीच में बहती थी किन्तु नन्दलाल इतने में सन्तुष्ट न हो सका। उछल कूद कर हाथ चलाकर मुझे भी गदला कर दिया। उसे बहने, डूबने और उतराने का आवेश बढ़ गया था।"

किरण—"हूँ, तब डूबे बहें।"

पवन चुपचाप इन बातों को सुन कर नदी के बहाव की ओर सर्राटा मार कर सन्देशा कहने को भगा। किन्तु वे बहुत दूर निकल गये थे।

सितारी मूर्च्छना में पड़ी रही।

करुणा की विजय

१

सन्ध्या की दीनता गोधूली के साथ दरिद्र मोहन की रिक्त थाली में धूल भर रही है। नगरोपकण्ठ में एक कुएँ के समीप बैठा हुआ अपनी छोटी बहन को वह समझा रहा है, फटे हुए कुरते की कोर से उसके अश्रु पोंछने में वह सफल नहीं हो रहा था। क्योंकि कपड़े के सूत से अश्रु विशेष थे। थोड़ा सा चना जो उसके पात्र में बेचने का बचा था उसी को रामकली माँगती थी। तीन वर्ष की रामकली को तेरह वर्ष का मोहन सँभालने में असमर्थ था।

ढाई पैसे वह बेच चुका है। अभी दो तीन पैसे का चना जो जल और मिर्चे में उबाला हुआ था और बचा है। मोहन चाहता था कि चार पैसे उसके रोकड़ में और बचे रहें, डेढ़ दो पैसे का कुछ लेकर अपना और रामकली का पेट भर लेगा। चार पैसे से सबेरे चने उबाल कर फिर अपनी दूकान लगा लेगा। किन्तु विधाता को यह नहीं स्वीकार था। जब से उसके माता पिता मरे, साल भर से वह इसी तरह अपना जीवन निर्वाह करता था। किसी सम्बन्धी या सज्जन की दृष्टि उसकी ओर न पड़ी। मोहन अभिमानी था। वह धुन का भी पक्का था। किन्तु आज वह विचलित हुआ। रामकली की कौन कहे वह भी भूख की ज्वाला सहन न कर सका। अपने अदृष्ट के सामने हार मान कर राम-

कली को उसने खिलाया, बचा हुआ जो था उसने मोहन के पेट की गरमी और बढ़ा दी। ढाई पैसे का और भी कुछ लाकर अपनी भूख मिटाई। दोनों कुएँ की जगत पर सो गये।

२

दरिद्रता और करुणा से झगड़ा चल पड़ा। दरिद्रता बोली— "देखो जी, मेरा कैसा प्रभाव है।" करुणा ने कहा—"मेरा सर्वत्र राज्य है। तुम्हारा विद्रोह सफल न होगा।" दरिद्रता ने कहा— "गिरती हुई बालू की दीवार कह कर नहीं गिरती। तुम्हारा काल्पनिक क्षेत्र नीहार की वर्षा से कब तक सिंचा रहेगा?" अभिमान अभी तक चुप बैठा रहा, किन्तु उससे नहीं रहा गया। कहा—"मैं भी किसी दल में घुस कर देखूँगा कि कौन जीतता है।" दोनों ने पूछा कि तुम किसका साथ दोगे? अभिमान ने ने कहा—"जिधर की जीत देखूँगा।"

करुणा ने विश्रान्त बालकों को सुख देने का विचार किया। मलय हिल्लोल की थपकी देकर सुला देना चाहा। दरिद्रता ने दिन भर की जमी हुई गर्द कदम्ब के पत्तों पर से खिसका दी। बालकों के सरल मुख ने धूल पड़ने से कुछ विकृत रूप धारण किया। दरिद्रता ने स्वप्न में भयानक रूप धारण करके उन्हें दर्शन दिया। मोहन का शरीर कँपने लगा। दूर से देखती हुई करुणा भी कँप उठी। अकस्मात् मोहन उठा और झोंक से बोला— "भीख न माँगँगा, मरूँगा।"

एक क्रन्दन और धमाका। रामकली को कुएँ ने अपनी शीतल गोद में ले लिया। डाल पर से दरिद्रता के अट्टहास की तरह उल्लू बोल उठा। उसी समय बँगले पर मेंहदी टट्टी से घिरे हुए चबूतरे पर आसमानी पंखे के नीचे मशहरी में से नगर पिता दण्डनायक चिल्ला उठे—"पंखा खींचो।"

× × ×

प्रसन्न बदन न्यायाधीश ने एक स्थिर दृष्टि से देखते हुए अपराधी मोहन से कहा—"बालक तुमने अपराध स्वीकार करते हुए कि रामकली अपनी बहिन की हत्या तुम्हीं ने की है, मृत्युदण्ड चाहा है। किन्तु न्याय अपराध का कारण ढूँढता है। सिर काटती है तलवार, किन्तु वही सर काटने के अपराध में नहीं तोड़ी जाती है। निर्बोध बालक तुम्हारा कुछ भी अभी कर्तृत्व नहीं है। तुमने यदि यह हत्या की भी हो तो तुम केवल हत्यारी के अस्त्र थे। नगर के व्यवस्थापक पर इसका दायित्व है कि तीन वर्ष की रामकली तुम्हारे हाथ में क्यों दी गई! यदि कोई उत्तराधिकारी विहीन धनी मर जाता तो व्यवस्थापक नगर पिता उसके धन को अपने कोष में रखवा लेते। यदि निर्बोध उत्तराधिकारी रहता तो उसकी सम्पत्ति सुरक्षित करने की वह व्यवस्था करते। किन्तु असहाय, निर्धन और अभिमानी तथा निर्बोध बालक के हाथ में शिशु का भार रख देना, राष्ट्र के शुभ उद्देश्य की गुप्त रीति से और शिशु की प्रकट हत्या करना है। तुम इसके अपराधी नहीं हो। तुम मुक्त हो।"

करुणा रोते हुए हँस पड़ी। अपनी विजय की वर्षा मोहन के अभिमान के अश्रु बन कर करने लगी।

खँड़हर की लिपि

जब वसन्त की पहली लहर अपना पीला रंग सीमा के खेतों पर चढ़ा लाई, काली कोयल ने उसे बरजना आरम्भ किया और भौंरे गुनगुना कर काना फूसी करने लगे, इसी समय एक समाधि के पास लगे हुए गुलाब ने भी मुँह खोलने का उपक्रम किया। किन्तु किसी युवक के चंचल हाथ ने उसका हौसला ही तोड़ दिया। दक्षिण पवन ने उससे कुछ झटक लेना चाहा, बिचारे की पंखुड़ियाँ झड़ गईं। युवक ने इधर उधर देखा एक उदासी और अभिलाषामयी शून्यता ने उसकी प्रत्याशी दृष्टि को कुछ उत्तर न दिया। वसन्त पवन का एक भारी झोंका 'हा हा' करता उसकी हँसी उड़ाता चला गया।

सटी हुई टेकरी की टूटी फूटी सीढ़ी पर युवक चढ़ने लगा। पचास सीढ़ियों के चढ़ने के बाद वह बगल की बहुत पुरानी दालान में विश्राम लेने के लिये ठहर गया। ऊपर जो जीर्ण मन्दिर था उसका ध्वंसावशेष देखने को वह बार बार जाता था। उस भग्न स्तूप से युवक को आमंत्रित करती हुई "आओ आओ" की अपरिस्फुट पुकार बुलाया करती। जाने कब के अतीत ने उसे स्मरण कर रक्खा है। मण्डप के भग्न कोण में एक पत्थर के ऊपर न जाने कौन सी लिपि थी जो किसी कोरदार

पत्थर से लिखी गई थी। वह नागरी तो कदापि नहीं थी। युवक ने आज फिर उसी ओर देखते देखते उसे पढ़ना चाहा। बहुत देर तक घूमता घूमता वह थक गया था, इस से उसे निद्रा आने लगी। वह स्वप्न देखने लगा।

कमलों का कमनीय विकास झील की शोभा को द्विगुणित कर रहा है। उसके आमोद के साथ वीणा की झनकार, झील के स्पर्श से शीतल और सुरभित पवन में भर रही थी। सुदूर प्रतीची में एक सहस्रदल स्वर्ण कमल अपने शेष स्वर्ण किरण की मृणाल पर व्योम निधि में खिल रहा है। वह मज्जित होना चाहता है। वीणा के तारों पर उसकी अन्तिम आभा की चमक पड़ रही है। एक आनन्दपूर्ण विषाद से युवक अपनी चञ्चल अँगुलियों को नचा रहा है। एक दासी स्वर्णपात्र में केसर, अगुरु, चन्दन मिश्रित अंगराग और नव मल्लिका की माला कई ताम्बूल लिए हुए आई, प्रणाम करके उसने कहा—"महाश्रेष्ठि धनमित्र की कन्या ने श्रीमान के लिये उपहार भेज कर प्रार्थना की है कि आज के उद्यान गोष्ठ में आप अवश्य पधारने की कृपा करें। आनन्द विहार के समीप उपवन में आपकी प्रतीक्षा करती हुई कामिनी देवी बहुत देर तक रहेंगी।

युवक ने विरक्त होकर कहा—"अभी कई दिन हुए हैं मैं सिंहल से आ हूँ, मेरा पोत समुद्र में डूब गया है। मैं ही किसी तरह बचा हूँ। अपने स्वामिनी से कह देना कि मेरी अभी ऐसी अवस्था नहीं है कि मै उपवन के आनन्द का उपभोग कर सकूँ।"

"तो प्रभु, क्या मैं यही उत्तर दे दूँ ?" दासी ने कहा।

"हाँ, और यह भी कह देना कि—तुम सरीखी अविश्वासिनी स्त्रियों से मैं और भी दूर भागना चाहता हूँ जो प्रलय के समुद्र की प्रचण्ड आँधी में एक जर्जर पोत से भी दुर्बल और उस डुबा देने वाली लहर से भी भयानक है।" युवक ने अपनी वीणा सँवारते हुए कहा।

"वे उस उपवन में कभी की जा चुकी हैं, और हम से यह भी कहा है कि यदि वे गोष्ठ में न आना चाहें तो स्तूप की सीढ़ी के विश्राम मण्डप में मुझ से एक बार अवश्य मिल लें, मैं निर्दोष हूँ।" दासी ने सविनय कहा।

युवा ने रोष भरी दृष्टि से देखा। दासी प्रणाम करके चली गई। सामने का एक कमल सन्ध्या के प्रभाव से कुम्हला रहा था। युवक को प्रतीत हुआ कि वह धनमित्र की कन्या का मुख है। उससे मकरन्द नहीं, अश्रु गिरि रहे हैं। "मैं निर्दोष हूँ" यही भौंरे भी गूँज कर कह रहे हैं।

× × ×

युवक ने स्वप्न में चौंक कर कहा—"मैं आऊँगा" आँख न खोलने पर भी उसने उस जीर्ण दालान की लिपि पढ़ ली—निष्ठुर ! अन्त को तुम नहीं आये।" युवक सचेत होकर उठने को था कि वह कई सौ बरस की पुरानी छत धम से गिरी।

वायु मण्डल में—"आओ आओ" का शब्द गूँजने लगा।

कलावती की शिक्षा

श्यामसुन्दर ने विरक्त होकर कहा,—"कला ! यह मुझे नहीं अच्छा लगता।" कलावती ने लैम्प की बत्ती कम करते हुये सिर झुका कर तिरछी चितवन से देखते हुए कहा—"फिर मुझे भी सोने के समय यह रोशनी अच्छी नहीं लगती।"

श्यामसुन्दर ने कहा—तुम्हारी पलँग तो इस रोशनी से बची है तुम जाकर सो रहो।" "और तुम रात भर योंही जागते रहोगे।" अबकी धीरे से कलावती ने हाथ से पुस्तक भी खींच ली। श्यामसुन्दर को इस स्नेह में भी क्रोध आ गया। तिनक गये—"तुम पढ़ने का सुख नहीं जानती, इसलिए तुमको समझाना ही मूर्खता है।" कलावती ने प्रगल्भ होकर कहा—"मूर्ख बन कर थोड़ा समझा दो।"

श्यामसुन्दर भड़क उठे, उनकी शिक्षिता उपन्यास की नायिका उसी अध्याय में अपने प्रणयी के सामने आई थी—वह आगे बातचीत करती; उसी समय ऐसा व्याघात। "स्त्रीणा माद्य प्रणय वचनं" कालिदास ने भी इसे नहीं छोड़ा था। कैसा अमूल्य पदार्थ ! अशिक्षिता कलावती ने वहीं रस भङ्ग किया। बिगड़ कर बोले—"वह तुम इस जन्म में नहीं समझोगी।"

कलावती ने और भी हँस कर कहा—"देखो उस जन्म में भी ऐसा बहाना न करना।"

पुष्पाधार में धरे हुए नरगिस के गुच्छे ने अपनी एकटक

देखती हुई आँखों से चुपचाप यह दृश्य देखा और वह कालिदास के तात्पर्य को बिगाड़ते हुये श्यामसुन्दर की धृष्टता न सहन कर सका, और शेष "विभ्रमोहि प्रियेषु" का पाठ हिल कर करने लगा।

× × ×

श्यामसुन्दर ने लैम्प की बत्ती चढ़ाई फिर अध्ययन आरंभ हुआ। कलावती अबकी अपने पलंग पर जा बैठी। डब्बा खोल कर पान लगाया, दो खीली लेकर फिर श्यामसुन्दर के पास आई। श्याम ने कहा—"रख दो।" खीली वाला हाथ मुँह की ओर बढ़ा, कुछ मुख भी बढ़ा, पान उसमें चला गया। कलावती फिर लौटी और एक चीनी की पुतली लेकर उसे पढ़ाने बैठी—"देखो मैं तुम्हे दो चार बातें सिखाती हूँ, उसे अच्छी तरह रट लेना। लज्जा कभी न करना, यह पुरुषों की चालाकी है जो उन्होंने इसे स्त्रियों के हिस्से कर दिया है। यह दूसरे शब्दों में एक प्रकार का भ्रम है, इसलिए तुम भी ऐसा रूप धारण करना कि पुरुष जो बाहर से अनुकम्पा करते हुए तुम से भीतर भीतर घृणा करते हैं वह भी तुम से भयभीत रहें, तुम्हारे पास आने का साहस न करें। और कृतज्ञ होना दासत्व है। चतुरों ने अपना कार्य साधन करने का अस्त्र इसे बनाया है। इसीलिये इसकी ऐसी प्रशंसा की है कि लोग इसकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। किन्तु है यह दासत्व। यह शरीर का नहीं किन्तु अन्तरात्मा का दासत्व है। इस कारण कभी कभी लोग बुरी

बातों का भी समर्थन करते हैं, प्रगल्भता जो आजकल बड़ी बाढ़ पर है, बड़ी अच्छी वस्तु है, उसके बल से मूर्ख भी पण्डित समझे जाते हैं, उसका अच्छा अभ्यास करना। जिसमें तुमको कोई मूर्ख न कह सके, कहने का साहस ही न हो। पुतली! तुमने रूप का परिवर्तन भी छोड़ दिया है यह और भी बुरा है। सोने के कोर की साड़ी तुम्हारे मस्तक को अभी भी ढँके है; तनिक इसे खिसका दो। बालों को लहरा दो। लोग लगें पैर चूमने, प्यारी पुतली! समझी न?"

श्यामसुन्दर की उपन्यास की नायिका भी अपने नायक के गले लग गई थी, प्रसन्नता से उसका मुख-मण्डल चमकने लगा। वह अपना आनन्द छिपा नहीं सकता था। पुतली की शिक्षा उसने सुनी कि नहीं, हम नहीं कह सकते, किन्तु वह हँसने लगा। कलावती को क्या सूझा, लो वह तो सचमुच उसके गले लगी हुई थी। अध्याय समाप्त हुआ। पुतली को अपना पाठ याद रहा कि नहीं, लैम्प के धीमे प्रकाश में कुछ समझ न पड़ा।

चक्रवर्ती का स्तम्भ

"बाबा, यह कैसे बना? इसको किसने बनाया? इस पर क्या लिखा है?" सरला ने कई सवाल किये। बूढ़ा धर्म-रक्षित, भेड़ों के झुण्ड को चरते हुये देख रहा था। हरी टेकरी झील के किनारे सन्ध्या के आतप की चादर ओढ़ कर नया रंग बदल

रही थी। भेड़ों की मण्डली उस पर धीरे धीरे चरती हुई उतरने चढ़ने में कई रेखा बना रही थी।

अबकी ध्यान आकर्षित करने के लिए सरला ने धर्मरक्षित का हाथ खींच कर उस स्तम्भ को दिखलाया। धर्मरक्षित ने निश्वास लेकर कहा—"बेटी, महाराज चक्रवर्ती अशोक ने इसे बनवाया था। इस पर शील और धर्म की आज्ञा खुदी है। चक्रवर्ती देवप्रिय ने यह नहीं विचार किया कि ये आज्ञायें कब तक मानी जायेंगी। धर्मोन्मत्त लोगों ने इस स्थान को ध्वस्त कर डाला। अब विहार में डर से कोई कोई भिक्षु कभी कभी दिखाई पड़ता है।"

वृद्ध यह कह कर उद्विग्न होकर कृष्ण सन्ध्या का आगमन देखने लगा। सरला उसी के बगल में बैठ गई। स्तम्भ के ऊपर बैठा हुआ आज्ञा का रक्षक सिंह धीरे धीरे अन्धकार में विलीन हो गया।

थोड़ी देर में एक धर्मशील कुटुम्ब उसी स्थान पर आया। जीर्ण स्तूप पर देखते देखते दीपावली हो गई। गन्ध कुसुम से वह स्तूप अर्चित हुआ। अगुरु की गन्ध, कुसुम-सौरभ तथा दीपमाला से वह जीर्ण स्थान एक बार आलोकपूर्ण हो गया। सरला का मन उस दृश्य से पुलकित हो उठा। वह बार बार वृद्ध को दिखाने लगी। धार्मिक वृद्ध की आँखों में उस भक्तिमयी अर्चना से जल बिन्दु दिखाई देने लगे। उपासकों में मिलकर

धर्मरक्षित और सरला ने भी भरे हुये हृदय से उस स्तूप को भगवान के उद्देश्य से नमस्कार किया।

× × ×

टापों के शब्द वहाँ से सुनाई पड़ रहे हैं। समस्त भक्ति के स्थान पर भय ने अधिकार कर लिया। सब चकित होकर देखने लगे। उल्काधारी अश्वारोही और हाथों में नंगी तलवारें! आकाश के तारों ने भी भय से मुँह छिपा लिया। मेघ मण्डली रो रो कर मना करने लगी, किन्तु निष्ठुर सैनिकों ने कुछ न सुना। तोड़ ताड़ लूट पाट करके सब पुजारियों को "बुतपरस्तों को" बाँध कर उनके धर्म-विरोध का दण्ड देने के लिये ले चले। सरला भी उन्हीं में थी।

धर्मरक्षित ने कहा—"सैनिको, तुम्हारा भी कोई धर्म है?" एक ने कहा,—"सर्वोत्तम इसलाम धर्म।"

धर्मरक्षित—"क्या उसमें दया की आज्ञा नहीं है?" उत्तर न मिला। धर्मरक्षित—"क्या जिस धर्म में दया नहीं है उसे भी तुम धर्म कहोगे?"

एक दूसरा—"है क्यों नहीं? दया करना हमारे धर्म में भी है। पैगम्बर का हुक्म है, तुम बूढ़े हो तुम पर दया की जा सकती है। छोड़ दो जी उसको।" बूढ़ा छोड़ दिया गया।

धर्म०—"मुझे चाहे बाँध लो किन्तु इन सबों को छोड़ दो। वह भी सम्राट था जिसने इस स्तम्भ पर समस्त जीवों के प्रति

दया करने की आज्ञा खुदवा दी है। क्या तुम भी देश विजय करके सम्राट हुआ चाहते हो ? तब दया क्यों नहीं करते।"

एक बोल उठा—"क्या पागल बूढ़े से बक बक कर रहे हो। कोई ऐसी फिक्र करो कि यह किसी बुत की परस्तिश का ऊँचा मीनार तोड़ा जाय।"

सरला ने कहा—"बाबा, हमको यह सब लिये जा रहे हैं।"

धर्म०—"बेटी असहाय हूँ, वृद्ध बाहों में बल भी नहीं है, भगवान की करुणा का स्मरण कर। उन्होंने स्वयं कहा है कि—"संयोगाः विप्रयोगन्ताः"।

× × ×

निष्ठुर लोग हिंसा के लिए परिक्रमण करने लगे। किन्तु पत्थरों में चिल्लाने की शक्ति नहीं है कि उसे सुन कर वे क्रूर आत्मायें तुष्ट हों। उन्हें नीरव रोने में भी असमर्थ देख कर मेघ बरसने लगे। चपला चमकने लगी। भीषण गर्जन होने लगा। छिपने के लिये वे निष्ठुर भी स्थान खोजने लगे। अकस्मात् एक भीषण गर्जन और तीव्र आलोक, साथ ही धमाका हुआ।

चक्रवर्ती का स्तम्भ अपने सामने यह दृश्य न देख सका। अशनिपात से खण्ड खण्ड होकर गिर पड़ा। कोई किसी का बन्दी न रहा।

दुखिया

पहाड़ी देहात, जंगल के किनारे के गाँव और बरसात का समय! वह भी उषाकाल! बड़ा ही मनोरम दृश्य था। रात की वर्षा से आम के वृक्ष तराबोर थे। अभी पत्तों पर से पानी ढुलक रहा था। प्रभात के स्पष्ट होने पर भी धुँधले प्रकाश में सड़क के किनारे आमवृक्ष के नीचे एक बालिका कुछ देख रही थी। 'टप' से शब्द हुआ बालिका उछल पड़ी, गिरा हुआ आम उठाकर अञ्चल में रख लिया। (जो पाकेट की तरह खोंस कर बना हुआ था)

दक्षिण पवन ने अनजान में फल से लदी हुई डालियों से अठखेलियाँ की। उसका सञ्चित धन अस्त व्यस्त हो गया। दो चार गिर पड़े। बालिका उषा के किरणों के समान ही खिल पड़ी। उसका अञ्चल भर उठा। फिर भी आशा में खड़ी रही। व्यर्थ प्रयास जान कर लौटी, और अपनी झोंपड़ी की ओर चल पड़ी। फूस की झोंपड़ी में बैठा हुआ उसका अन्धा बूढ़ा बाप अपनी फूटी हुई चिलम सुलगा रहा था। दुखिया ने आते ही आँचल से सात आमों में से पाँच निकाल कर बाप के हाथ में रख दिये। और स्वयं बरतन माँजने के लिये 'डबरे' की ओर चल पड़ी।

बरतनों का विवरण सुनिये, एक फूटी बटुली, एक लोंहदी और लोटा, यही उस दीन परिवार का उपकरण था। डबरे के

किनारे छोटी सी शिला पर अपने फटे हुए वस्त्र सँभाले हुए बैठकर दुखिया ने बरतन मलना आरंभ किया।

२

अपने पीसे हुए बाजरे के आटे की रोटी पका कर दुखिया ने बूढ़े बाप को खिलाया और स्वयं बचा हुआ खा पीकर पास ही के महुये के वृक्ष की फैली जड़ों पर सिर रख कर लेट रही। कुछ गुनगुनाने लगी। दुपहरी ढल गई। अब दुखिया उठी और खुरपी जाला लेकर घास करने चली। जमींदार के घोड़े के लिये घास वह रोज दे आती थी, कठिन परिश्रम से उसने अपने काम पर घास कर लिया, फिर उसे डबरे में रख कर धोने लगी।

सूर्य की सुनहली किरणें बरसाती आकाश पर नवीन चित्रकार की तरह कई प्रकार के रंग लगाना सीखने लगीं। अमराई और ताड़ वृक्षों की छाया उस शाद्वल जल में पड़ कर प्राकृतिक चित्र का सृजन करने लगी। दुखिया को विलम्ब हुआ, किन्तु अभी उसकी घास धो नहीं गई, उसे जैसे इसकी कुछ परवाह न थी। इसी घोड़े की टापों के शब्द ने उसकी एकाग्रता को भंग किया।

जमींदार कुमार सन्ध्या को हवा खाने के लिये निकले थे। बेगवान 'बालोतरा' जाति का कुम्मेद पचकल्यान आज गरम हो गया था। मोहनसिंह से बेकाबू होकर वह बगटूट भाग रहा था। संयोग! जहाँ पर दुखिया बैठी थी उसी के समीप

ठोकर लेकर घोड़ा गिरा। मोहनसिंह भी बुरी तरह घायल होकर गिरे। दुखिया ने मोहनसिंह की सहायता की। डबरे से जल लाकर घावों को धोने लगी। मोहन ने पट्टी बाँधी, घोड़ा भी उठ कर शान्त खड़ा हुआ। दुखिया जो उसे टहलाने लगी थी। मोहन ने कृतज्ञता की दृष्टि से दुखिया को देखा, वह एक सुशिक्षित युवक था। उसने दरिद्र दुखिया को उसकी सहायता के बदले दो रुपया देना चाहा दुखिया ने हाथ जोड़ कर कहा—"बाबू जी, हम तो आप ही के गुलाम हैं। इसी घोड़े को घास देने से हमारी रोटी चलती है।"

अब मोहन ने दुखिया को पहिचाना। उसने पूछा—

"क्या तुम राम गुलाम की लड़की हो?"

"हाँ बाबू जी।"

"वह बहुत दिनों से दिखता नहीं?"

"बाबू जी, उनकी आँखों से दिखाई नहीं पड़ता।"

"अहा, हमारे लड़कपन में वह हमारे घोड़े को जब हम उस पर बैठते थे पकड़ कर टहलाता था। वह कहाँ है?"

"अपनी मड़ई में।"

"चलो, हम वहाँ तक चलेंगे।"

किशोरी दुखिया को कौन जाने क्यों संकोच हुआ। उसने कहा—

"बाबू जी, घास पहुँचाने में देर हुई है। सरदार बिगड़ेंगे।"

"कुछ चिन्ता नहीं तुम चलो।"

लाचार होकर दुखिया घास का बोझा सिर पर रखे हुए झोंपड़ी की ओर चल पड़ी। घोड़े पर मोहन पीछे पीछे था।

३

"रामगुलाम तुम अच्छे तो हो।"

"राजा! सरकार! जुग जुग जीओ। बाबू!" बूढ़े ने बिना देखे अपनी टूटी चारपाई से उठते हुए दोनों हाथ अपने सिर तक ले जाकर कहा।

"रामगुलाम तुमने पहचान लिया।"

"न कैसे पहचानें सरकार! यह देह पली है।" उसने कहा।

"तुमको कुछ पेन्शन मिलती है कि नहीं?"

"आप ही का दिया खाते हैं बाबू जी! अभी लड़की हमारे जगह पर घास देती है।" भावुक नवयुवक ने फिर प्रश्न किया—

"क्यों रामगुलाम जब इसका विवाह हो जायगा तब कौन घास देगा?"

रामगुलाम के आनन्दाश्रु दुःख की नदी होकर बहने लगे। बड़े कष्ट से उसने कहा—"क्या हम सदा जीते रहेंगे?"

अब मोहन से न रहा गया वही दो रुपया उस बुड्ढे को देकर चलते बने। जाते जाते कहा "फिर कभी।"

दुखिया को भी घास लेकर वहीं जाना था वह पीछे चली।

× × ×

जमींदार की पशुशाला थी। हाथी, ऊँट, घोड़ा, बुलबुल

भैंसा, गाय, बकरे, बैल, लाल, किसी की कमी नहीं थी। एक दुष्ट नजीब खाँ इन सबों का निरीक्षक था। दुखिया को देर से आते देखकर उसे अवसर मिला। बड़ी नीचता से उसने कहा—"मारे जवानी के तेरा मिजाज ही नहीं मिलता। कल से तेरी नौकरी बन्द कर दी जायगी। इतनी देर ?"

दुखिया कुछ नहीं बोलती, किन्तु उसको अपने बूढ़े बाप की याद आ गई। उसने सोचा किसी तरह नौकरी बचानी चाहिये, तुरन्त कह बैठी—

"छोटे सरकार घोड़े पर से गिर पड़े रहे उन्हें मड़ई तक पहुँचाने में देर . ।"

"चुप हरामजादी! तभी तो तेरा मिजाज और बिगड़ा है। अभी बड़े सरकार के पास चलते हैं।"

वह उठा और चला। दुखिया ने घास का बोझा पटका और रोती हुई झोंपड़ी की ओर चलती हुई। राह चलते चलते उसे छबरे का सायंकालीन दृश्य स्मरण होने लगा। वह उसी में भूल कर अपने घर पहुँच गई।

प्रतिमा

जब अनेक प्रार्थना करने पर यहाँ तक कि अपनी समस्त उपासना और भक्ति का प्रतिदान माँगने पर भी 'कुञ्जविहारी' की प्रतिमा न पिघली, कोमल प्राणों पर दया न आई, आँसुओं

के अर्घ्य देने पर भी न पसीजी, और कुञ्जनाथ किसी प्रकार देवता को प्रसन्न न कर सके, भयानक शिकारी ने सरला के प्राण ले ही लिये, किन्तु पाषाणी प्रतिमा अचल रही, तब भी उसका राग भोग उसी प्रकार चलता रहा, शङ्ख, घंटा और दीपमाला का आयोजन यथा नियम होता रहा। केवल कुञ्ज-नाथ तब से मन्दिर की फुलवारी में पत्थर पर बैठ कर हाथ जोड़ कर चला आता। "कुञ्जविहारी" को समक्ष जाने का साहस नहीं होता। न जाने मूर्ति में उसे विश्वास ही कम हो गया था कि अपनी श्रद्धा की, विश्वास की दुर्बलता उसे संकुचित कर देती।

आज चाँदनी निखर रही थी। चन्द्र के मनोहर मुख पर रीझ कर सुर बालाय तारका-कुसुम की वर्षा कर रही थीं। स्निग्ध मलयानिल प्रत्येक कुसुम स्तवक को चूमकर मन्दिर की अनेक मालाओं को हिला देता था। कुञ्ज पत्थर पर बैठा हुआ सब देख रहा था। मनोहर मदनमोहन मूर्ति की सेवा करने को चित्त उत्तेजित हो उठा। कुञ्जनाथ ने सेवा, पुजारी के हाथ से ले ली। बड़ी श्रद्धा से पूजा करने लगा। चाँदी की आरती लेकर जब देव-विग्रह के सामने युवक कुञ्जनाथ खड़ा हुआ अक-स्मात् मानसिक वृत्ति पलटी और सरला का मुख स्मरण हो आया। कुञ्जविहारी जी की प्रतिमा के मुख मण्डल पर उसने अपनी दृष्टि जमाई।

"मैं अनन्त काल तक तरंगों का आघात, वर्षा, पवन, धूप,

धूल से तथा मनुष्यों के अपमान श्लाघा से बचने के लिये गिरि-गर्भ में छिपा पड़ा रहा, मूर्ति मेरी थी या मैं स्वयं मूर्ति था, यह सम्बन्ध व्यक्त नहीं था। निष्ठुर लौह अस्त्र से जब काट कर मैं अलग किया गया तब किसी प्राणी ने अपनी समस्त सहृदयता मुझे अर्पण की, उसकी चेतावनी मेरे पाषाण में मिली, प्रतिमा सजीव हुई, जब तक वह भाव, वह कोमल विश्वास, आत्मानुभव की तीव्र वेदना यह सब मुझे मिलते रहे, मुझमें विभ्रम था, विलास था, शक्ति थी। अब तो पुजारी भी वेतन पाता है और मैं भी उसी के अवशिष्ट से अपना निर्वाह ......

और भी क्या मूर्ति कह रही थी, किन्तु शंख और घण्टा भयानक स्वर में बज उठा। स्वामी को देख कर पुजारी लोगों ने धातु पात्रों को और भी वेग से बजाना आरम्भ कर दिया। कुञ्जनाथ ने आरती रख दी। दूर से कोई गाता हुआ जा रहा था।

"सच कह दूँ ऐ बिरहमन गर तू बुरा न माने।
तेरे सनमक़दा के बुत हो गये पुराने॥"

कुञ्जनाथ ने स्थिर दृष्टि से देखा मूर्ति में वह सौन्दर्य नहीं, वह भक्ति स्फुरित करने वाली कान्ति नहीं। वह ललित भाव लहरी का आविर्भाव तिरोभाव मुख मण्डल से जाने कहाँ चला गया है। धैर्य छोड़कर कुञ्जनाथ चला आया। प्रणाम भी नहीं कर सका।

२

"कहाँ जाती है ?"

"माँ आज शिव जी की पूजा नहीं की।"

"बेटी तुझे कल रात से ज्वर था, फिर इस समय जाकर क्या नदी में स्नान करेगी ?"

"हाँ, मैं बिना पूजा किये जल न पियूँगी।"

"रजनी तू बड़ी हठीली होती जा रही है। धर्म की ऐसी कड़ी आज्ञा नहीं है कि वह स्वास्थ्य को नष्ट करके पालन की जाय।"

"माँ, मेरे गले से जल न उतरेगा। एक बार वहाँ तक जाऊँगी।"

"तू क्यों इतनी तपस्या कर रही है ?"

"तू क्यो पड़ी पड़ी रोया करती है ?"

"तेरे लिये।"

"और मैं भी पूजा करती हूँ तेरे लिये कि तेरा रोना छूट जाय"—इतना कह कर कलसी लेकर रजनी चल पड़ी।

× × ×

बट वृक्ष के नीचे उसी की जड़ में पत्थर का छोटा सा जीर्ण मन्दिर है। उसी में शिव मूर्ति है, बट की जटा से लटकता हुआ मिट्टी का बर्तन अपने छिद्र से जल बिन्दु गिराकर जाह्नवी और जटा की कल्पना को सार्थक कर रहा है। बैसाख के कोमल

विल्वदल उस श्यामल मूर्ति पर लिपटे हैं। गोधूली का समय, शीतलवाहिनी सरिता में स्नान करके रजनी ने दीपक जला कर आँचल की ओट में छिपा कर उसी मूर्ति के सामने लाकर धर दिया। भक्ति भाव से हाथ जोड़ कर बैठ गई और करुणा, प्रेम तथा भक्ति से भगवान को प्रसन्न करने लगी। सन्ध्या की मलिनता में छोटे से दीपक के प्रकाश में सचमुच वह पत्थर की मूर्ति मांसल हो गई। प्रतिमा में सजीवता आ गई। दीपक की लौ जब पवन से हिलती थी तब विदित होता था कि प्रतिमा प्रसन्न होकर झूमने लगी है। एकान्त में भक्त भगवान को प्रसन्न करने लगा। अन्तरात्मा के मिलन ने उस जड़ प्रतिमा को आर्द्र बना डाला। रजनी ने विधवा माता की विकलता को पुष्पाञ्जलि बनाकर देवता के चरणों में डाल दिया। बेले का फूल और विल्वदल सान्ध्य पवन से हिल कर प्रतिमा से खिसक कर गिर पड़ा। रजनी ने कामनापूर्ण होने का संकेत पाया। प्रणाम करके कलसी उठा कर गाँव की झोंपड़ी की ओर अग्रसर हुई।

३

"मनुष्य इतना पतित कभी न होता यदि समाज उसे न बना देता। मैं अब इस कङ्काल समाज से कोई सम्बन्ध न रक्खूँगा। जिसके साथ स्नेह करो वही कपट रखता है, जिसे अपना समझो वही कतरनी लिये रहता है। ओह, हम विद्वेष करके इतने क्रूर बना दिये गये हैं, हमें लोगों ने बुरा बना दिया है। अपने स्वार्थ

के लिये, हम कदापि इतने दुष्ट नहीं हो सकते थे। हमारी शुद्ध आत्मा में किसने विष मिला दिया है, कलुषित कर दिया है। किसने कपट, चातुरी, प्रवञ्चना सिखाई है। इसी पैशाचिक समाज ने, इसे छोड़ना होगा। किसी से सम्बन्ध ही न रहेगा तो फिर विद्वेष का मूल ही न रह जायगा। चलो आज से इसे तिलाञ्जलि दे दो। बस.................. युवक कुञ्जनाथ आम्रकानन के कोने पर से सन्ध्या के आकाश को देखते हुए कह रहा था। लता की आड़ से निकलती हुई रजनी ने कहा—"हैं हैं किसे छोड़ते हो?"

कुञ्जनाथ ने घूम कर देखा कि उनकी स्वर्गीय स्त्री की भगिनी रजनी कलसी लिये जा रही है। कुञ्जनाथ की भावना प्रबल हो उठी। आज बहुत दिनों पर रजनी दिखाई पड़ी है। दरिद्रा सास को कुञ्जनाथ बड़ी अनादर की दृष्टि से देखते थे। उससे कभी मिलना भी अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझते थे। जब से सरला का देहान्त हुआ तब से और भी, दरिद्र कन्या से ब्याह करके उन्हें समाज में सिर नीचा करना पड़ा था। इस पाप का फल रजनी की माँ को बिना दिये, बिना प्रतिशोध लिये कुञ्ज-नाथ को चैन नहीं। रजनी जब बालिका थी, कई बार बहन के पास बैठ कर कुञ्जनाथ से सरल विनोद कर चुकी थी। आज उसके मन में वही बालिका-सुलभ चाञ्चल्य का उदय हो गया। वह बोल उठी—"कुञ्ज बाबू! किसे छोड़ना चाहते हो?"

कुञ्ज, धनी जमींदार-सन्तान था, उससे प्रगल्भ व्यवहार करना साधारण काम नहीं था। कोई दूसरा समय होता तो

कुञ्जनाथ बिगड़ उठता, पर दो दिन से उसके हृदय में बड़ी करुणा है अतः क्रोध को अवकाश नहीं। हँस कर पूछा—"कहाँ से आती हो रजनी?"

रजनी ने कहा—"शिव-पूजन करके आ रही हूँ।"

कुञ्ज ने पूछा—"तुम्हारे शिवजी कहाँ है?"

रजनी—"यहीं नदी के किनारे।"

कुञ्ज—"मैं भी देखूँगा।"

रजनी—"चलिये।"

दोनों नदी की ओर चले। युवक ने देखा कि भग्न-मन्दिर का नग्न देवता—न तो वस्त्र है, न अलङ्कार न चाँदी के पात्र हैं, न जवाहरात की चमक। केवल श्यामल मूर्ति पर हरे-हरे बिल्वदल और छोटा-सा दीपक का प्रकाश। कुञ्जनाथ को भक्ति का उद्रेक हुआ। देव-मूर्ति के सामने उसने झुक कर प्रणाम किया।

क्षण-भर में आश्चर्य से कुञ्ज ने देखा कि स्वर्गीया सरला की प्रतिमा रजनी, हाथ जोड़े है, और वह शिव-प्रतिमा कुञ्ज-विहारी हो गई है।

प्रलय

हिमावृत चोटियों की श्रेणी, अनन्त आकाश के नीचे क्षुब्ध समुद्र! उपत्यका की कन्दरा में, प्राकृतिक उद्यान में खड़े हुए युवक ने युवती से कहा,—"प्रिये!"

"प्रियतम ! क्या होने वाला है ?"

"देखो क्या होता है; कुछ चिन्ता नहीं—आसव तो है न ?"

"क्यों प्रिय ! इतना बड़ा खेल क्या योंही नष्ट हो जायगा ?"

"यदि नष्ट न हो, खेल ज्यों का त्यों बना रहे, तब तो वह बेगार हो जायगा।"

"तब हृदय में अमर होने की कल्पना क्यों थी ?"

"सुख-भोग-प्रलोभन के कारण।"

"क्या सृष्टि की चेष्टा मिथ्या थी ?"

"मिथ्या थी या सत्य, नहीं कहा जा सकता—पर सर्ग प्रलय के लिये होता है, यह निस्सन्देह कहा जायगा; क्योंकि प्रलय भी एक सृष्टि है।"

"अपना अस्तित्व बना रखने के लिये बड़ा उद्योग था"—युवती ने दीर्घ निश्वास लेकर कहा।

"यह तो मैं भी मानूँगा कि अपने अस्तित्व के लिये स्वयं आपको व्यय कर दिया।"—युवक ने व्यंग्य से कहा।

युवती करुणार्द्र हो गई। युवक ने मन बदलने के लिये कहा, "प्रिये ! आसव ले आओ।"

युवती स्फटिक-पात्र में आसव ले आई। युवक पीने लगा।

"सदा रक्षा करने पर भी यह उत्पात ?" युवती ने दीन होकर जिज्ञासा की।

"तुम्हारे उपासकों ने भी कम अपव्यय नहीं किया।" युवक ने सस्मित कहा।

"ओह, प्रियतम ! अब कहाँ चलें ?" युवती ने म्लान करके कहा।

कठोर होकर युवक ने कहा—"अब कहाँ, यहीं से यह लीला देखेंगे।"

× × ×

सूर्य्य का अलात-चक्र के समान शून्य में भ्रमण, और उसके विस्तार का अग्नि-स्फुलिंग-वर्षा करते हुए आश्चर्य-संकोच ! हिम-टीलों का नवीन महानदों के रूप में पलटना, भयानक ताप से शेष प्राणियों का कलटना ! महाकापालिक के चिताग्नि-साधन का वीभत्स दृश्य !! प्रचण्ड आलोक का अंधकार !!!

युवक मणि-पीठ पर सुखासीन होकर आसव पान कर रहा है। युवती त्रस्त नेत्रों से इस भीषण व्यापार को देखते हुए भी नहीं देख रही है। जवाकुसुम सदृश और जगत का तत्काल तरल पारद-समान रंग बदलना, भयानक होने पर भी युवक को स्पृहणीय था। वह सस्मित बोला—"प्रिये ! कैसा दृश्य है ?"

"इसी का ध्यान करके कुछ लोगों ने आध्यात्मिकता का प्रचार किया था।" युवती ने कहा।

"बड़ी बुद्धिमत्ता थी !" हँस कर युवक ने कहा। वह हँसी ग्रह गण की टक्कर के शब्द से भी कुछ ऊँची थी।

"क्यों ?"

"मरण के कठोर सत्य से बचने का बहाना या आड़।"

"प्रिय ! ऐसा न कहो।"

"मोह के आकस्मिक अवलम्ब ऐसे ही होते हैं।" युवक ने पात्र भरते हुए कहा।

"इसे मैं नहीं मानूँगी" दृढ़ होकर युवती बोली।

सामने की जल-राशि आलोड़ित होने लगी। असंख्य जल-स्तम्भ शून्य मापने को ऊँचे चढ़ने लगे। कण-जाल से कुहासा फैला। भयानक ताप पर शीतलता हाथ फेरने लगी। युवती ने और भी साहस से कहा—"क्या आध्यात्मिकता मोह है ?"

चैतनिक पदार्थों का ज्वार-भाटा है। परमाणुओं से ग्रथित प्राकृत नियन्त्रण शैली का एक बिन्दु ! अपना अस्तित्व बचाये रखने की आशा में मनोहर कल्पना कर लेता है। विदेह होकर विश्वात्मभाव की प्रत्याशा, इसी क्षुद्र अवयव में अन्तर्निहित अन्तःकरण यन्त्र का चमत्कार साहस है, जो स्वयं नश्वर उपादानों को साधन बनाकर अविनाशी होने का स्वप्न देखता है। देखो, इसी सारे जगत के लय की लीला में तुम्हें इतना मोह हो गया ?"

प्रभंजन का प्रबल आक्रमण आरम्भ हुआ। महार्णव की आकाशमापक स्तम्भ लहरियाँ भग्न होकर भीषण गर्जन करने लगीं। कन्दरा के उद्यान का अक्षयवट हहरा उठा। प्रकाण्ड शाल वृक्ष तृण की तरह उस भयङ्कर फूत्कार से शून्य में उड़ने लगे। दौड़ते हुये वारिद-वृन्द के समान विशाल शैल-शृङ्ग आवर्त में पड़ कर चक्र-भ्रमण करने लगे। उद्गीर्ण ज्वालामुखियों के लावे जल-राशि को जलाने लगे। मेघाच्छादित, निस्तेज,

स्पृश्य, चन्द्रबिम्ब के समान सूर्यमण्डल महाकापालिक के पिये हुये पान-पात्र की तरह लुढ़कने लगा। भयंकर कंप और घोर वृष्टि में ज्वालामुखी बिजली के समान विलीन होने लगे।

युवक ने अट्टहास करते हुये कहा—"ऐसी बरसात काहे को मिलेगी, एक पात्र और।"

युवती सहम कर पात्र भरती हुई बोली—"मुझे अपने गले से लगा लो बड़ा भय लगता है।"

युवक ने कहा—"तुम्हारा त्रस्त करुण और अर्ध कटाक्ष विश्व भर की मनोहर छोटी सी आख्यायिका का सुख देख रहा है। हाँ एक—"

"जाओ, तुम बड़े कठोर हो।"

"हमारी प्राचीनता और विश्व की रमणीयता ने तुम्हें सर्ग और प्रलय की अनादि लीला देखने के लिये उत्साहित किया था। अब उसका ताण्डव नृत्य देखो। तुम्हें भी अपनी कोमल कठोरता का बड़ा अभिमान था—"

"अभिमान ही होता तो प्रयास करके तुमसे क्यों मिलती। जाने दो, तुम मेरे सर्वस्व हो। तुमसे अब यह माँगती हूँ कि अब कुछ न माँगू, चाहे इसके बदले मेरी समस्त कामना ले लो।" युवती ने गले में हाथ डाल कर कहा।

× × ×

भयानक शीत, दूसरे क्षण असह्य ताप, वायु के प्रचण्ड झोकों में एक के बाद दूसरे की अद्भुत परम्परा, घोर गर्जन, ऊपर

"तब और जानने की आवश्यकता नहीं, अब मिलना चाहती हो?"

"हूँ" अस्फुट शब्द का अन्तिम भाग प्रणव के समान गूँजने लगा!

"आओ, यह प्रलय रूपी तुम्हारा मिलन आनन्दमय हो। आओ।"

अखण्ड शान्ति! आलोक!! आनन्द!!!